

☆ प्रकाशक	जयकृष्ण
	कृष्णा ब्रदर्स, अजमेर
☆ द्वितीय-संस्करण	सन्—१९६०
	कागज–२०×३०=२८ पौंड
	कवर बाइडिङ्ग–२०×३०=६० पौंड
☆ मूल्य	छात्र-संस्करण–१ ३०
☆ मुद्रक	घीसाराम करणात,
	नेशनल प्रेस, अजमेर

१

* * * * * * * *

आचार्य कालक

'लाला' की लघु स्मृति-रूप

. दो :

चाँदनी अब भी छिटक रही थी। उपाश्रय की गध-कुटी के द्वार पर आचार्य कालक गम्भीर मुद्रा में खडे थे। वर्द्धमान वृक्ष की सघन कवरी-छाया के उस पार दूर उनकी समस्त शक्तियाँ केन्द्रित थी। और जब अविरल उत्पात-ध्वनि विशेष उग्रता से सुप्त वातावरण को प्रतिध्वनित कर जाती, तो जिज्ञासा की प्रबल आतुरता उनके मुख की गभीरता के स्तर के भीतर झलक पडती। आखिर दूर एक मूर्ति को तीव्र गति से भाग कर इधर ही आते हुए उन्होने देखा। वे, पहिचानकर, पुकार उठे.

"सागर!"

"क्षमण, साध्वी स   "

"क्या?"

"भयकर बात है, भन्ते!"

और क्षिप्र-श्वास लेता हुआ वह आचार्य के सम्मुख आकर निराश मूर्ति-सा खडा हो गया। उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे। मालूम होता था कि अवश्य किन्ही एकागारिको से भिडन्त हो गई है। आगन्तुक भिक्षु इतना भयभीत और व्यथित था कि बहुत देर तक वह मूक ही खडा रहा। और आचार्य भी किसी दुर्घटना की आशका से स्तब्ध होकर उसके कथन की प्रतीक्षा में चुप रहे।

प्राक्कथन

'विष्णु-दा' (श्री विष्णु अम्बालाल जोशी, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, गवर्नमेण्ट कॉलेज, अजमेर।) अनोखे मिजाज के आदमी हैं। उनकी कृतियों को प्रकाशित करने के बारे में हमने—शायद और प्रकाशक-सहयोगियों ने भी—कई बार कहा होगा, वे अपनी प्रथम रचना 'वह ' के प्रकाशन से असन्तुष्ट होने के कारण इस सबंध में अधिकांश कठोर मौन धारण किये रहते रहे हैं। कुछ दिनों पूर्व जब कि हम उनकी दबी-सी पडी कृतियों को टटोल रहे थे, हमने दबी जबान में ही उनकी दो रचनाओं—एक 'आचार्य कालक' और दूसरी 'मजदूरिन' को एक ही जिल्द में प्रकाशित करने की चाहना प्रकट की; वे मन्द मुस्कराये; पर उसमें न मालूम कौन-सी गाढ़ रहस्यभरी अनुभूति रमण कर उठी थी कि वे अजीब-सा प्रश्न कर बैठे—'कर सकोगे ?' हम भी कुछ अटपटे-से मूक उनकी ओर देखते रह गये, खोज लेने को कि आखिर उनका अभिप्राय क्या है। उनके बाद के कथन से सारी बात का राज खुला।

'विष्णु-दा' को ये कृतियाँ काफी प्रिय रही हैं—एक अपने बड़े-से सुभाग को लिए और दूसरी उतने ही बड़े अभाग को लिए। 'मजदूरिन' खुद अभागी रही है और उसकी कहानी भी, जो उसके लेखक की समग्र करुणा में से आकार धारण कर सकी है, उसके अभाग से बची नहीं है। वह अभाग इतना सर्वग्राही है कि वह अपने प्रकाशन पाने के अन्तर्गत दो लोक-प्रिय व श्रेष्ठ मासिक-पत्रों—'विक्रम' (उज्जैन) तथा 'जनमन' (अजमेर) को ले बैठी। वह प्रकाशित न हो सकी, न सही, पर अफसोस की बात है कि वे पत्र ही बन्द हो गये। उसका फँसा अभाग है कि अपनी निर्दोपिता व सरलता में वह अपनों ही को

अनचाहे घेरती है, आकर्षित करती है और डस लेती है। इसी कारण 'विष्णु-दा' इन अप्रिय घटनाओं के बाद, इसे सब ओर से रक्षित कर अपने पास ही छिपाये रखते आये हैं। इसके विपरीत, 'आचार्य कालक' के सुभाग से-उसका कृतिकार सन्तुष्ट है। वह लिखी गई कि 'विक्रम-अभिनन्दन-ग्रन्थ' में तत्काल स्थान पा गई। इसके बाद, उसके आधार पर आकाश-वाणी, दिल्ली से उसका रेडियो-रूपक प्रसारित हुआ, श्री उदयशंकर भट्ट ने अपनी नाट्य-कृति 'शक-विजय' का रूप-विन्यास किया, वह स्वयं प्रकाशित हुई, प्रेरक बनी, तथा कीर्ति प्राप्त कर गई।

खैर, हमारे प्रस्ताव पर जो 'विष्णु-दा' ने आरम्भ में आशंका प्रकट की थी वह बाद में, आश्चर्य है, अनायास ही दूर हो गई जैसे। इसीलिये वे हमारी नीति-कुशलता की तारीफ कर कह बैठे, 'सुभागी तथा अभागी—इन दो विपरीत-भाग्या कृतियों का गठ-बन्धन कर आपने व्यापारिक गुर का परिचय दिया है। देखिये, प्रकाशित करने जा रहे हैं तो कीजिये। हो सकता है दोनों का यों बंधना शुभ ही हो।'

'विष्णु-दा' की आशंका तथा साथ ही (हमारे प्रस्ताव पर) उसके समाधान ने ही हमें इन कृतियों को प्रकाशित करने की दिशा में बहुत अधिक बल दिया है। हर्ष है कि आज इन दो पुष्पों को हम सरस्वती-मन्दिर में पूजनार्थ अर्पित कर रहे हैं।

—प्रकाशक

आचार्य कालक



आरम्भ



वीर निर्वाण के ४०० वर्ष के बाद भारत अन्धकार युग की झंझा में विड़ोलित था। सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संगठन, साम्प्रदायिक प्रवृत्तियो के घात-प्रतिघात से विशृंखल हो चुका था। पूर्व ऋषियो ने समाज को जिस वर्ण-सूत्र में विभाजन कर सशक्त किया था, वह सूत्र टूट चुका था, देश के प्राङ्गण मे दो विभूतियो ने मानव-जाति को धर्म के सत्-रूप का जो अमर सन्देश दिया था, वह सन्देश भी काल की गति विरूप हो चला था। प्रजा अनेक भ्रान्तियो में पड़कर त्रस्त जीवन यापन कर रही थी और ...पति अपनी महत्वाकाक्षाओ की नीच वृत्ति में निरंकुश बन ... थे। युग के अन्धकार में पूर्व गौरव मूक था।

उज्जयिनी ने 'नाम' पा लिया था, पर 'काम' का वह स्वर्णमय स्वप्न भर देख रही थी। उसके पटल पर उस अन्धकाराच्छन्न आकाश मे झिलमिलाती तारावली अपनी कोमल रश्मियो से एक स्वप्निल ससार का चित्र अकित कर रही थी। नगर के तट पर शिप्रा अपनी लोल लहरियो मे प्रवाहित होकर अमराइयो के पात-पात में, फूल-फूल में जीवन भर जाती थी, पर उसका सगीत अभी स्वर ही भरने लगा था।

कौन नही जानता कि रावण 'राम-राज्य' की कल्पना और सृष्टि का आधार नही था, कौन नही जानता कि दुर्योधन गीता के अमर सन्देश का हेतु नही था? प्रकाश और अन्धकार का ऐसा ही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। उज्जयिनी का शासक इस समय गर्दभिल्ल दप्पण था, जिसका बल हिंसक दानव-सा था, जिसका न्याय व्याघ्र-सा था और जिसका शासन निरकुश मत्त-सा था। उसने चिर-परिचित गणतन्त्र प्रथा का मूलोच्छेद कर दिया था और शासन का समस्त भार अपने और अपने मनोनुकूल 'तीर्थो' के हाथो मे ले लिया था। यह नवीन तन्त्र केवल उसकी महत्वाकांक्षा और विलास-प्रियता की पूर्ति के लिये रचा गया था। और उसकी सफलता मे किसी ओर से भी किसी प्रकार का विरोध होता था, उसका वह सारी शक्ति और सारी धूर्तता से सामना करता और उसके अकुर को पल्लवित भी नही होने देता था। प्रजा अपने पूर्व सुख और ऐश्वर्य के बचे भाग का उपभोग करती हुई उस उत्पीडन को सह रही थी। उसका शासन इस प्रकार एकतन्त्री एकरसी हो गया था

: एक :

चारु चन्द्र की रजत किरणो की कबरी-छाया राजनगर के बाहर वाले पथ पर पड रही थी। दोनो ओर विशाल वृक्षो की सघन रेखा दिगन्त मे विलीन हो रही थी। उसी घनी चन्द्रिका मे एक सुसज्जित महान् रथ रुनझुन करता हुआ तीव्रगति से सुपथ पर अग्रसर था। उसके चार अश्वो के खुरो की टाप सम पड़ रही थी और उनकी बाग जिस सारथी के हाथ मे थी उसके मुख पर आत्म-गौरव की आभा स्पष्ट लक्षित थी। रथ मे कोई विशिष्ट व्यक्ति विराजमान था।

वह किसी मधुर-स्मृति के आकर्षण में इतना आत्म-विस्मृत हो जाता था कि कभी, कभी वस्तु-ज्ञान से विहीन हो जाने से उसके मुख से अनायास ही निकल पडता था—"तुम अनुपम हो, सुन्दरी !" पर ज्योही वह सजग हो उठता, वह त्योही सारथी को सम्बोधित कर पुकार उठता था—"शीघ्रता कर, सूत !" और सूत "जो आज्ञा" कहकर अपनी बाग को पुनः सम्हाल लेता। वह अपने कार्य मे दक्ष था, अपने अश्व-गण की शक्ति और ज्ञान पर पूर्ण विश्वास रखता था। रथ पवन-पथगामी हो रहा था।

इसी रथ के पीछे एक दूसरा रथ चला आ रहा था जिसमें दो सभ्य विराजमान थे। वे संघ और उसके सरस्वती-महोत्सव के सम्बन्ध मे कुछ विनोद-प्रिय सभाषण कर रहे थे। शायद, उस उत्सव से ही वे सब लौटे जा रहे थे।

जायगा। " महाराज, क्षणभर, रुके, अपनी उद्वेलित भाव-तरङ्ग को उन्होने शमन किया। फिर मौन योगीश्वर के प्रदीप्त मुख की ओर दृष्टिपात कर वे सब्रीडा नत-मस्तक बोले—

"कुछ काल पूर्व सुना था कि मुनि कालक और उसकी भगिनी नगर के बाहर शिप्रा तट वाले उपाश्रय मे आये हैं, कोई विशेष बात नही थी। पर एक सप्ताह पूर्व, भगवन्, आखेट के बाद मे वन-विहार कर रहा था कि मैंने ऊषा के शान्त तथा रम्य वातावरण मे शिप्रा की लोल-लहरो से एक देवबाला-सी सुन्दरी को क्रीडा करते देखा। वह कालक की भगिनी साध्वी सरस्वती थी। उसकी क्रीडा मे साध्वी की निष्काम तन्मयता नही थी, वरन् मोहक आकर्षण तथा लगाव का ऐसा अलक्ष्य भाव था, जो उसके अग-प्रत्यग मे रोमाच का सचार कर रहा था। यह मैंने अनुभव किया था, भगवन्! जब सरिता के उस तट के एक विशाल वृक्ष से उडकर कलहसी का पीछा करते हुए एक कलहस को उसने देखा, उसके मुख पर स्मित-हास की रेखा खिच गई थी और उसकी कोमल कमल-बाहे जल-तरगो को अपने आवृत्त मे भरने फैल गई थी। न मालूम उस तरगालिगन मे उसका कैसा सुखद स्वप्न था! भगवन् स्नान के पश्चात्, अन्तरीय व स्तनाशुक बदल और बिखरी केश-राशि का जूडा बनाकर वह धीरे २ तटवर्ती लताकुजो मे घूमने लगी और एक सुन्दर मदार-पुष्प-गुच्छ को तोडकर उसने जूडे मे धारण किया। उसकी इस आसक्ति-

प्रवृत्ति ने मुझे विचलित कर दिया। मैं, एकाएक, हँस पडा। मेरी हास्य-ध्वनि ने उसे सचेत कर दिया। उसने मेरी ओर सशंकित भाव से देखा, और तुरन्त लज्जा से आरक्त मुख को नीचा कर वह वहाँ से चली गई। क्या यही उसका व्रती जीवन है, भगवन्? मैं समझता हूँ, कालक उसके जीवन को यों बाँध देना चाह रहा है। उसे मुक्त करने की मेरी इच्छा है। सोचता हूँ कि नगर के महाकाल के मन्दिर की पण्या बनकर वह अपने जीवन को अधिक सार्थक बना सकती है!"

महाराज को हठात् रुकना पडा।

मुनीश्वर गम्भीर स्वर मे बोले :

"भक्त, पानक चाहिए ?"

और महाराज की स्वीकृति के पूर्व ही एक शिष्य का नाम पुकार कर उन्होने आज्ञा दी :

"भक्त के लिये पानक लाओ।"

"जो आज्ञा।"

कुछ देर बाद, हिमानन्द शिष्य हाथ में एक काष्ठ-पात्र लेकर वहाँ उपस्थित हुआ और महाराज को उसे सविनय भेंट कर, होने वाले रिक्त पात्र को लेने के लिए वह एक ओर खड़ा हो गया। महाराज के पानक पानकर चुकने के बाद वह पात्र को लेकर वापिस चला गया।

"कैसा अमृत-सा जीवन प्रदान करने वाला पानक है!" स्वस्थ होकर महाराज ने शान्ति भंग की; योगीश्वर ने तब कहा :

"तू कह रहा था कि सुन्दरी महाकाल-मन्दिर की पण्या बनकर अपने जीवन को सार्थक कर सकेगी। क्या ऐसी ही तेरी कामना है भक्त ?"

"भगवन्, आपके सम्मुख गुप्त कुछ नहीं है, पर " महाराज विचारने के लिए रुके।

मुनीश्वर की आकृति अधिक गम्भीर हो गई। उनके नेत्रों की कान्ति अधिक प्रदीप्त हो उठी। वे सर्वद्रष्टा की भांति कहने लगे

"अर्द्ध-रात्रि के समय उज्ज्वल चांदनी के शीतल प्रकाश में उपाश्रय के बाहर किसी की प्रतीक्षा में एकाकी खड़ा वह कौन है ?—एकाएक, एक दीर्घ प्रतीक्षा के पश्चात्, एक कोमल स्वर-लहरी से चकित होकर पथ पर विस्फारित नेत्र बिछाये आशातुर वह कौन है ?—और फिर उपाश्रय के आलिंदवाले उपवन-मध्य चत्वाँल पर अपनी ही नग्न-रूप-राशि की माया में विभ्रममयी नारी के चक्षु-संस्पर्श से अभिभूत वह कौन है ? "

"भगवन्, मुझे क्षमा करें !"

"और—और उस नारी के प्रति तेरी यह मुग्ध भावना ! महाकाली के मन्दिर की पण्या!! "मुनीश्वर कहते कहते अट्टहास कर उठे।

महाराज कर-बद्ध अवाक् बैठे थे।

मुनीश्वर अपने ही अट्टहास-ध्वनि के अवसान के पूर्व फिर कहने लगे।

"और अभी मनाए जाने वाले उपाश्रय-उत्सव की बातें, भक्त !"

"वहीं से आ रहा हूँ।" महाराज आधार पा सम्भल कर बोले, "उस सरस्वती-पूजन के महोत्सव मे सम्मिलित होने का प्रयोजन आपसे गुप्त नही है, भगवन् ! अपनी निर्बलता को मैं स्वीकार करता हूँ। कालक-भगिनी सरस्वती का वह निर्मल श्वेत परिधान से वेष्टित वेश अनुपम था ! 'ओऽम् ह्रीं नमो भगवति ' ...... ' देवि-स्तुति से सृजन हुआ उसका संगीत तथा नृत्य 'केवलि पन्नत धम्मं सरण पवज्जामि !' में लय हुआ। कैसा उसका रूप था, कैसा उसका स्वर था, कैसी उसकी मुद्रा थी ! भगवन्, सत्य वह जनपद-कल्याणी है। आपकी स्वीकृति चाहता हूँ।"

"भक्त !" योगीश्वर के मुख पर स्निग्धता लहरा उठी थी, वे कहने लगे, "मखलिपुत्र ने कहा है कि जीवो को जो सुख-दुःख होता है, वह स्वयकृत नही और अन्यकृत भी नही है। कालक वचीपरम है, और वह अपने को निमित्तज्ञानी कहकर वचना करता है। आखिर जो उच्छिष्ट उसे प्राप्त हुआ है, वह आजीवक साधु के द्वारा ही। भक्त, मेरे सम्मुख उसकी सिद्धि अकारथ होगी। तू निश्चित होकर कार्य-सिद्धि कर।"

"भगवन् ।"

"रात्रि अधिक बीत चुकी है, भक्त।"

महाराज उठे। नत होकर, वे मुनीश्वर के चरण स्पर्शकर बोले :

"आज्ञा हो, भगवन्।"

"पर . . ."

"भग . . ."

"पर याद रखना कि इस काल के बाद न तू कालक के सम्मुख जाना और न वदी सरस्वती को उसके सम्मुख जाने देना क्योंकि मेरे परोक्ष में वह अपनी सिद्धि का प्रयोग कर सकता है। समझ गया न, भक्त।"

"हाँ, भगवन्।"

"तो जा। मखलिपुत्र तेरी रक्षा करेंगे।"

"मै अनुगृहीत हूँ।"

— o —

वह कोलाहल अब भी चारो दिशाओ मे व्याप्त हो रहा था। आखिर उस कटु-शान्ति का भार असह्य हो गया और आचार्य दृढता से बोले—"क्या कह रहे थे, सागर !"

"क्षमण, महा-अनर्थ हुआ है। जैसा अमगल का आत्म-निर्देश आपको हुआ था, वैसा ही काण्ड घटा हैं। साध्वी सरस्वती राज-दस्युओ के द्वारा हर ली गई है। भगवन्, हमने प्रतिरोध किया था, पर कुछ न बन पडा। और मै यही सूचना देने आपके "

आचार्य कालक की गम्भीर मुद्रा मे अनेक वक्र-रेखाएँ खिच गई। उनके नेत्र मानसिक द्वन्द्व की अग्नि मे प्रज्ज्वलित हो उठे। फिर भी वे मूक रहे।

सागर भिक्षु, उत्तेजित, कभी उस दिशा की ओर जिधर से वह आया था, और कभी आचार्य की मौन मुद्रा की ओर देखता हुआ कह उठता था—

"अनर्थ हुआ है, आचार्य ! वे गर्दभिल्ल के अनुचर थे मैंने परीक्षा की है, प्रभु ! सन्देह की बात नही है रथ राजा के थे और देवी का आर्तनाद भगवन् दस्यु तत्पर थे जीवन देकर भी बचा सकता तो पर "।

दूर का वह कोलाहल शान्त हो गया था। केवल मन्द से मन्दतर होते हुए अश्वो की टापे अब भी सुनाई दे जाती थी।

और अन्य आश्रमवासी भी दीर्घश्वास लेते घबराये हुए वहां आकर चुपचाप खडे हो गये। किसी ने कुछ भी कहने का

साहस नही किया। वे सब पृथ्वी की ओर देख रहे थे। तब आचार्य कालक का गम्भीर नाद सुनाई दिया :

"तुम सब चिकित्सक विमलसूरि के पास जाओ। किसी के विशेष गम्भीर आघात तो नही लगा है, प्रवृद्ध ! ... और विमलसूरि है कहां ? अपनी कुटि में ... और सागर, तुमसे कुछ मंत्रणा करनी है। आओ।"

कहकर, वे अपनी गन्धकुटी के भीतर प्रवेश कर गये। सागर भी उनके पीछे २ चला गया और द्वार पर जाकर खड़ा हो गया। स्वभावानुसार श्रमाश्रमण अपनी पीठिका पर नही बैठे थे, वरन् वे गन्ध-कुटी के आंगन पर इधर से उधर और उधर से इधर घूम रहे थे। सागर इस क्रिया को चुपचाप देख रहा था।

श्रमाश्रमण के सम्मुख जैसे महान्धकार था और उसमे एक प्रचण्ड झंझावात जैसे बह रहा था। अपने जीवन के निश्चित स्वप्न आज प्रभा के समान चमककर विलीन होते हुए उन्हें प्रतीत हो रहे थे। इस निर्ग्रन्थ जीवन की अनासक्त प्रवृत्ति में भी, साध्वी सरस्वती ने अपनी सरलता, व्रतपरायणता, और अनुकरणीय त्याग के द्वारा आचार्य के हृदगत भगिनी-प्रेम को धर्म-क्षेत्र में कार्य करने वाली सहयोगिन के प्रति स्वाभाविक उत्पन्न होने वाली एक सात्विक अपनत्व-भावना में परिवर्तित कर दिया था। पर आज जब वह एक सुन्दर युवती की भांति अन्यान्यो के द्वारा हरण कर ली गई थी, उनकी अन्तःसज्ञा में दबी भ्रात-भावना उद्वेलित हो-होकर उन्हे अपने जीवन की

बीती घटनाएँ याद दिला जाने लगी—मगध देशातर्गत धारावास नगर के राजभवन, माता सुरसुन्दरी और पिता वयरसिंह का प्रेमभाव, बहिन सरस्वती के साथ राजभवन के साथी प्रांगण, अलिन्द, प्रासाद, उपवन—सब स्थानो मे बालक्रीडा, अश्वारूढ होकर वन-विहार, वन की प्रकृति सुषमा मे एकाग्र जैनाचार्य 'गुणाकर' से भेट, उनके धर्मोपदेश से प्रभावित होकर गृह-त्याग और फिर बहिन सरस्वती की भी जैन-साध्वियो के पास दीक्षा आदि एक-एक कर कई घटनाएँ स्मृति-पटल पर चित्रवत् उतरने लगी। गृहत्याग के पश्चात् अपने अविरल अध्ययन, अपने अखण्डित इन्द्रिय-निग्रह, अपने गूढ मनन और एकाग्र तप से जो भी दैहिक सम्पत्ति का त्याग और जो भी आत्मिक तत्व का उपार्जन उन्होने किया था, उस क्रमके अन्तर्गत एक ही महती आकाक्षा थी और वह थी सत्-धर्म का प्रचार। इसी हेतु उन्होने धर्म-द्रोही आजीवक आचार्य का शिष्यत्व भी स्वीकार किया था और ज्योतिष-निमित्त-शास्त्रो का अध्ययन किया था, इस सिद्वान्त पर कि विद्या प्राप्ति के निमित्त साधु को पतित-साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिये। पर ये प्रयत्न और प्रयत्न का मूल आग्रह—सब उन्हे साध्वी सरस्वती के साथ ही हरण होते हुए दिखलाई दिये। साध्वी सरस्वती का हरण न केवल उज्जयिनी के श्रावक-सघ की अक्षमता और अशक्ति की ओर ही सकेत कर जाता था, वरन् साथ ही आचार्य कालक की प्रतिभा पर भी कुठाराघात था। और वे अपने ही सम्मुख ये नही देख सकते थे। वे गिरने के बजाय उठना चाहते थे और आज का काण्ड भविष्य मे

होनेवाली किसी विशेष क्रान्ति का सूत्रपात है, उनका मन.पर्याय-ज्ञान यही सूचना दे रहा था; क्योंकि इस घटना का सूत्र केवल उज्जयिनी-पति गर्दभिल्ल के हाथ मे नही है लेकिन उसका मुख्य पर अलक्ष सूत्रधार आजीवको का प्रधान दहन है, यह वह जान गये थे ।

योगी दहन के प्रति प्रतिस्पर्द्धा-भावना आचार्य कालक के हृदय को क्रोधाग्नि से हिला-हिला गई, जला-जला गई । उनकी गौर मुखाकृति रक्त-सचार के आधिक्य से कृष्णवर्ण हो गई, घूमते २ उनके हाथ की मुट्ठियाँ बंध गई । वे एकाएक रुके और किंकर्त्तव्यविमूढ से खडे सागर से बोले

"तुमने कहा था कि इस हरण मे राज का हाथ है—क्यो न सागर ?"

"हाँ श्रमण !"

"पर तुम नही जानते कि घटना किसी अन्य ही सूत्रधार से सचालित है । राजा दप्पण अपने आचार्य—'गर्दभी-प्रदात्ता' के बिना एक पग भी आगे नही बढ सकता, सागर ! हमे अधिक सतर्क होकर काम करना होगा, नही तो उज्जयिनी मे सत्-धर्म के प्रचार और रक्षा से हमें विमुख होना पड़ेगा । उस आजीवक की शक्ति कम नही है !"

कहकर, वे फिर विचारमग्न इधर-उधर तीव्र गति से घूमने लगे । और वे फिर स्वतः भाषण-सा करने लगे :

"ज्ञातृपुत्र का वचन है कि बहुत से पाखण्डी गुरुओ की सेवा किया करते हैं—हे गोतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर ।

और दप्पण अपनी महत्वाकाक्षा की, अपनी भोगलिप्सा की पूर्ति के लिये ऐसे ही गुरु का आश्रय ग्रहण कर चुका है। उज्जयिनी का भाग्य आज इन आसुरी प्रवृत्तियो के प्रहार से खण्ड-खण्ड हो रहा है। वह राजा है और इस रूप मे उसके विचार का, उसके कार्यों का एक विशेष महत्व है, क्योकि उनका प्रभाव परोक्ष तथा अपरोक्ष ढग से प्रजा पर पडता है। आयुष्मान सागर, न केवल उज्जयिनी-सघ के लिए, सत्-धर्म के लिए तथा मालव के लिए भी हमे सचेत होना होगा। नहीं तो, साध्वी सरस्वती की आह सबका सर्वनाश कर देगी।"

आचार्य कालक की विस्फारित स्थिर आंखे मूक खडे सागर पर पडी, वह उनकी ओर देखकर केवल इतना ही बोला—"हाँ, श्रमण।"

"यह सच है, सागर, कि कर्म अपने कर्त्ता के ही पीछे लगते है, अन्य किसी के नही। पर राजा के कर्म तो प्रजा को, देश को एक गति देने वाले होते हैं। वही अपने कर्मों का भोगता नही होता, वरन् जाति, समाज और देश भी उसके फल के सुख-दुःख को समान अनुभव करते है। ज्ञातृपुत्र ने कहा है कि जो मनुष्य काम भोगो मे आसक्त होते है वे पापकर्म कर डालते है, अन्त मे महान् क्लेश पाते हैं। इसीलिए सोचना हूँ, सागर, कि उस पाप-कक्ष के विस्तार के पूर्व ही हमे सतर्क हो जाना होगा।"

और यह कहकर अब वे अपनी पीठिका पर जा बैठे और सागर को उन्होंने हस्त-इगित से पास मे बैठने का आदेश दिया।

आचार्य कालक इस बीच शान्त हो गये थे और उनकी स्वाभाविक गम्भीरता पुनः लौट आई थी—स्थिरता आ गई थी। वे भविष्य के कार्यक्रम पर विचार कर रहे थे। आखिर वे फिर बोले :

"सागर, मैं प्रातःकाल राजभवन की ओर जाऊँगा और रिस्थिति के अनुसार कार्य करूँगा। इसके पूर्व, कथित-क्षेपणीय भिक्षुकों को यह आदेश मिल जाना चाहिये कि वे उस समय वहीं किसी न किसी भाँति उपस्थित रहें और समय खकर कटु शब्दों से मेरा विरोध करें और राज-कर्मचारियों की दृष्टि में उनके अपने बनने का प्रदर्शन करें। भिक्षुकियों को भी सूचित कर देना चाहिये कि वे साध्वी सरस्वती की गतिविधि का सूक्ष्म निरीक्षण करती रहें। बुद्धिव्रत को जाकर समझा दो, वह सुचारु-रूप से सब कुछ कर लेगा। जाओ सागर !"

"जो आज्ञा !"



: तीन :

दिन चढ गया था। सागर अपनी आम्रकुटी के भीतर टहलता हुआ आचार्य की प्रतीक्षा मे आतुर था और कभी कभी वह द्वार पर आकर मार्ग की ओर एक दृष्टि डाल भी जाता था। इस बार, जब वह द्वार पर आया, तो उसने आचार्य-गधकुटी के द्वार को खुला देखा। वह तुरन्त उस ओर तीव्र गति से चल पडा। उत्तरासग का एक छोर पृथ्वी पर लटक रहा था, पर उसका ध्यान उधर था ही नही। चला-चला गन्धकुटी के द्वार पर आकर वह खडा हो गया। आचार्य, कुछ घडी पूर्व के समान ही, कुटी के आँगन पर घूम रहे थे। आहट पाकर उन्होने द्वार की ओर देखा और सागर को अभिवादन करते देखकर आचार्य ने कहा :

"धर्मवृद्धि सागर !"

"भन्ते !"

"भीतर आओ, सागर ! द्वार बन्द कर देना।"

सागर द्वार बन्द करके गुरु की पीठिका के निकट आकर बैठ गया।

"जिज्ञासु हो, सागर ! पर परिस्थिति अनकूल नही है, पहिले से अधिक विषम हो गई है। इस पर भी जो कुछ वहाँ घटा है, हमारे ध्येय पूर्ति के लिये वह साधक हो सकता है। इससे अधिक की आशा भी नही की जा सकती थी। प्रयमत

मैंने राज-कर्मचारियो से वार्ता की, उन्होने इस सम्बन्ध मे पूर्ण अज्ञानता प्रकट की। मैंने उनके द्वारा राजा दर्पण से प्रार्थना कराई, पर उसका फल भी कुछ नही हुआ। नम्रता की इस उपेक्षा के बाद मैंने, उचित समझ कर, राजा तथा सामन्तो पर कटु आक्षेप किये, ऐसे ही समय उत्क्षेपणो ने आक्रोश से मुझे सम्बोधित किया, कहा—'यह मायावी है, पापश्रुत का अनुशीलन कर सघ की मर्यादा और पवित्रता को भग कर रहा है। वह अपनी व्यक्तिगत स्पर्धा के कारण समस्त सत्-धर्म को राजशक्ति के विरुद्ध कर रहा है। वह मोमुह है, वह रभस है, वह उपनाही है।' और जब राजाज्ञा के अनुसार मेरे लिये प्रव्राजन की घोषणा की गई, तो वे सब हर्ष से चिल्ला उठे 'उचित है, उचित है! वह इसी के योग्य है!!' राजकर्मचारियो पर उनके इस प्रदर्शन का प्रभाव मैं बडी सूक्ष्मता से देख रहा था। और केवल यही क्षीण-सूत्र भविष्य की चिर सफलता बन जावे, तो कोई आश्चर्य नही। फिर भी, और सब बातें विचारणीय हैं। मुझे उज्जयिनी की भूमि त्यागने का आदेश मिला है। हमे अपने काँटो को फूल बनाना है, मुझे ऐसा लगता है कि यह निर्वासन भी, बाह्य-रूप से अनर्थसूचक होता हुआ भी, शुभ है। मुझे अवश्य ऐसा करना पडता, पर राजाज्ञा का आधार पाने से अब नगरी की सीमा को त्यागना विपक्षियो के सन्देह का कारण नही बन सकता। क्यो न ?"

"उचित है, भन्ते!"

"मुझे तुरन्त इस स्थान को त्यागना होगा। इसीलिये

सागर, यहाँ का भार तुम्हारे ऊपर है। मेरी अनुपस्थिति मे तुम्हारे सम्मुख कुछ कर्त्तव्य हैं। प्रकट रूप से तुम्हे मेरे कार्यो के विरुद्ध घोषणा करनी होगी, और ऐसे कार्य करते रहना होगा जिससे राज का कृपा भाजन बनने में सहायता मिलती रहे, और साथ ही गुप्त रीति से सरस्वती की रक्षा और सत्-धर्म की अनुयायी प्रजा का सगठन करने का अवसर प्राप्त हो सके। बड़ी गम्भीर बात है, सागर, परन्तु तुम्हारी शक्ति और बुद्धि पर मुझे विश्वास है।"

"आपकी आज्ञा मेरे जीवन का व्रत बने, भन्ते !"

"ज्ञातृपुत्र तेरी रक्षा करेगा।" क्षमाश्रमण आचार्य कालक ने कहा, 'एक बात और। वह आजीवक बडा चतुर है। आज भी, जैसा कि मैं चाहता था स्वय राजा दर्पण मेरे सम्मुख नही आया। मैने कई युक्तियो से उससे साक्षात्कार करना चाहा। मेरा अभिप्राय था कि आवर्तनी माया से उसको विभ्रम कर दूं, पर मै इस प्रयोजन मे सफल न हो सका। ये सूक्ष्म क्रियायें आजीवक की बुद्धि वैभव के उदाहरण है। तुम उसकी गति-विधि से पूर्ण परिचित रहने का प्रयत्न करना। सागर, धर्म की रक्षा के लिए इस प्रकार कटिबद्ध होना हमारा कर्त्तव्य है।"

सागर ने नतमस्तक होकर मौन स्वीकृति प्रदान की। इस विषादमय काल मे भी आचार्य के मुख पर एक आनन्द की रेखा खिंच गई। वे भावमग्न बोले '

"मेरा मन हलका हुआ है, सागर! और तुम देखोगे कि तुम्हारे निमित्त-ज्ञानी दिशा प्रमुख आचार्य का आज से

मतिभ्रम, विक्षिप्त, पागल के नाम से उल्लेख किया जायगा और इस बात को तुम्हें अपने मुँह से जन-जन के कानो तक पहुँचाना होगा जिससे सब जान जांय कि सरस्वती हरण तथा निर्वासन-राज्यादेश ने उन्हें वैसा बना दिया है। वे कही चले गये हैं--- मर गये हैं! चौक पडे, अन्तेवासी।"

"यह कैसे होगा, भन्ते?" सागर के स्वर मे करुणा थी।

"सत्-धर्म के लिए सब करना होगा!" आचार्य कालक कहते गये—"और समय समय पर मैं गुप्तवास के कार्यों की सूचना तुम्हें गुप्तचरो द्वारा देता रहूँगा। अब तुम मेरे जाने का प्रबन्ध करो, इस बीच में अन्य आवश्यक काम पूर्ण कर देता हूँ—तुम जाओ।"

सागर का हृदय द्रवित हो उठा। इस आकस्मिक परिस्थिति पर मनन करने के लिए वह एकान्त का इच्छुक था। वह अभिवादन कर और पट खोलकर वहाँ से चुपचाप अपनी कुटी में चला आया।

सागर, यहाँ का भार तुम्हारे ऊपर है। मेरी अनुपस्थिति मे तुम्हारे सम्मुख कुछ कर्त्तव्य हैं। प्रकट रूप से तुम्हे मेरे कार्यो के विरुद्ध घोषणा करनी होगी, और ऐसे कार्य करते रहना होगा जिससे राज का कृपा भाजन बनने में सहायता मिलती रहे, और साथ ही गुप्त रीति से सरस्वती की रक्षा और सत्-धम की अनुयायी प्रजा का सगठन करने का अवसर प्राप्त हो सके। बडी गम्भीर बात है, सागर, परन्तु तुम्हारी शक्ति और बुद्धि पर मुझे विश्वास है।"

"आपकी आज्ञा मेरे जीवन का व्रत बने, भन्ते !"

"ज्ञातृपुत्र तेरी रक्षा करेगा।" क्षमाश्रमण आचार्य कालक ने कहा, "एक बात और। वह आजीवक बडा चतुर है। आज भी, जैसा कि मै चाहता था स्वय राजा दर्पण मेरे सम्मुख नही आया। मैने कई युक्तियो से उससे साक्षात्कार करना चाहा। मेरा अभिप्राय था कि आवर्तनी माया से उसको विभ्रम कर दूं, पर मै इस प्रयोजन मे सफल न हो सका। ये सूक्ष्म क्रियायें आजीवक की बुद्धि वैभव के उदाहरण हैं। तुम उसकी गति-विधि से पूर्ण परिचित रहने का प्रयत्न करना। सागर, धर्म की रक्षा के लिए इस प्रकार कटिबद्ध होना हमारा कर्त्तव्य है।"

सागर ने नतमस्तक होकर मौन स्वीकृति प्रदान की। इस विषादमय काल मे भी आचार्य के मुख पर एक आनन्द की रेखा खिंच गई। वे भावमग्न बोले :

"मेरा मन हल्का हुआ है, सागर ! और तुम देखोगे कि तुम्हारे निमित्त-ज्ञानी दिशा प्रमुख आचार्य का आज से

मतिभ्रम, विक्षिप्त, पागल के नाम से उल्लेख किया जायगा और इस बात को तुम्हें अपने मुंह से जन-जन के कानो तक पहुँचाना होगा जिससे सब जान जांय कि सरस्वती हरण तथा निर्वासन-राज्यादेश ने उन्हें वैसा बना दिया है। वे कही चले गये हैं-- मर गये हैं! चौक पडे, अन्तेवासी!"

"यह कैसे होगा, भन्ते?" सागर के स्वर में करुणा थी।

"सत्-धर्म के लिए सब करना होगा!" आचार्य कालक कहते गये—"और समय समय पर मैं गुप्तवास के कार्यों की सूचना तुम्हें गुप्तचरो द्वारा देता रहूँगा। अब तुम मेरे जाने का प्रबन्ध करो, इस बीच में अन्य आवश्यक काम पूर्ण कर देता हूँ—तुम जाओ।"

सागर का हृदय द्रवित हो उठा। इस आकस्मिक परिस्थिति पर मनन करने के लिए वह एकान्त का इच्छुक था। वह अभिवादन कर और पट खोलकर वहाँ से चुपचाप अपनी कुटी में चला आया।



उज्जैनगरी मे उस दिन जिह्वा-जिह्वा पर बात रही

साध्वी सरस्वती की चर्चा चलती, तो कहा जाता—रात्रि को स्वय सरस्वती ने योगीश्वर के आश्रम मे आकर उनके चरण पकड लिये, कहा, 'मुझे शरण दो। मेरे बन्धु का शासन असह्य है।' योगीश्वर ने बडी उदारता से उसको अभयदान दिया। और वह अब महाकाल के मन्दिर मे 'पण्या बनने को आतुर है।

महाराज गर्दभिल्ल दप्पण की चर्चा चलती, तो बडे गोपनीय ढग से कहा जाता—महाराज को जब इस घटना की खबर लगी, वे तुरन्त योगीश्वर की सेवा मे उपस्थित हुए और उन्होने साध्वी सरस्वती की रक्षा का सम्पूर्ण भार अपने कन्धो पर ले लिया। इस सकट समय तक साध्वी राजमहलो मे ले जाई गई है।

आचार्य कालक की चर्चा चलती तो कटाक्ष से कहा जाता—बडा निमित्तवेत्ता बना था, जिसके अहम् मे साध्वी सरस्वती पीडित और व्यथित होकर मुक्ति की राह देखने लगी थी। उसकी क्रूरता क्या बखानी जा सकती ? राजाज्ञा से वह निर्वासित हुआ है, यह उचित ही है, उचित ही है।

× × × ×

कुछ काल उपरान्त, एक दिन उज्जयिनी के उपाश्रय मे मुख्य-पीठिका पर विराजमान श्रमण सागर ने उपस्थान-शाला मे उपस्थित चारो परिषद्* के सम्मुख यह घोषित किया

*भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक तथा उपासिका।

"आचार्य कालक त्रिक, चतुष्क, चत्वर, महाजन आदि स्थानो मे इस प्रकार उन्मत्त की तरह प्रलाप करते फिरते हुये देखे गये—'यदि गर्दभिल्ल राजा है, तो इससे क्या ? यदि वह रम्य अन्तःपुर है, तो इससे क्या ? यदि देश मनोहर है, तो इससे क्या ? यदि नगरी अच्छी बसी है, तो इससे क्या ? यदि मैं भिक्षा मांगता फिरता हूँ, तो इससे क्या ? अगर शून्य देवल मे मैं बसता हूँ, तो इससे क्या ?'—इस भांति प्रलाप करते हुए उन्होने उज्जयिनी का परित्याग किया। सघ इस पलायन से अनभिज्ञ है। और यह भी सुना जाता है कि उन्होने राज-द्वार पर क्रोधित होकर एक भीष्म प्रतिज्ञा भी की थी कि यदि गर्दभिल्ल का राज्योन्मूलन न करूँ, तो प्रवचन-सयमोपघातक और उनके उपेक्षको की गति को प्राप्त होऊं। इन सब सूचनाओ से विदित होता है कि आचार्य पापश्रुत विद्याओ के जटिल चक्र में पडकर सत्-धर्म से च्युत हो गये हैं। उनके कार्य ज्ञातृपुत्र की वाणी के विरुद्ध हैं। इसलिए जबतक वे अपने आस्रव-निरोध-गामिनी प्रतिपद् का त्याग कर पुनः केवली-प्ररूपित धर्म की शरण में नही आवेंगे, तबतक वे उत्क्षेपण भिक्षु की भांति समझे जायेंगे !"

उपस्थित चारो परिषद् ने क्षमण सागर की उक्त घोषणा को शान्ति से सुना और अन्त में कहा :

"सत्यवाणी ! सत्यवाणी !!—सत्धर्म की जय ! गौतम की जय !!"

कुछ काल उपरान्त, रात्रि के समय स्वय उज्जयिनी-पति महाराज दप्पण योगीश्वर के साथ मत्रणा कर रहे थे। कुटी का द्वार बद था और एक रजत-मडित दीप-पात्र की वर्त्ति की उज्ज्वल ज्योति से वह जगमगा रही थी। योगीश्वर एक सुसज्जित पर्यंक पर और उनके सम्मुख महाराज दप्पण एक भव्य उच्च-पीठिका पर विराजमान थे। कुटी के समस्त अलकार चित्ताकर्षक थे, और इसी कारण शका होती थी कि क्या यह एक योगी का शयनागार है। महाराज के हाथ मे स्वर्ण-पात्र था और वे कुछ पान कर रहे थे। योगीश्वर का शरीर अपनी विभूति लिए प्रसन्न था, और अपने हाथ मे स्वर्णपात्र लिए वे भी पान मे मग्न थे।

महाराज एकाएक हंस पडे, बोले

"दुर्भापी कालक उज्जयिनी के लिए ही नही, मगध के लिए ही नही, वरन् सघ के लिये यो मर जायगा—ऐसी तो कल्पना भी न की थी, भगवन्!"

सुनकर, योगीश्वर अट्टहास कर उठे, कहने लगे :

"भक्त, तू वार्ता को उडाना चाहता है।"

"नही, भगवन्!"

"साध्वी सरस्वती की बात कह रहा था न!"

"हाँ।"

"तो गुरु-भेंट कब होगी, भक्त? ऐसी भूल तो कभी हुई नही।"

सदा बरती जाने वाली रीति की ओर योगीश्वर के स्पष्ट संकेत को आशंका महाराज को थी। इसके पूर्व वे इस रीति को प्रसन्नता से निबाहते आये हैं, उनके हृदय में दुराव की भावना कभी उठी ही नहीं। महाराज को ज्ञात है कि योगीश्वर की ओर से ऐसा संकेत कभी आया ही नहीं, सदा उचित समय पर उनकी ओर से ही उस रीति की पूर्ति कर दी जाती थी। पर साध्वी सरस्वती के प्रति महाराज का आकर्षण ऐसा अपूर्व था कि वे उसके प्रति अपना सम्बन्ध इस रीति से परे की बात समझते थे, इसीलिए वे योगीश्वर के ध्यान को उधर से हटाने का भरसक प्रयत्न कर रहे थे। योगीश्वर को पानक की मादकता क्षण क्षण उत्तेजित कर रही थी, महाराज पानक से प्रभावित होकर भी आज सजग थे। वे विकल होकर बोले :

"पर वह अभी मार्ग पर ..."

"मार्ग पर नहीं आई, क्यों न ? इसका उपाय मैं बताऊँगा, भक्त ? पर तू क्या कहने आया था ?"

"यही कि वह समझाने-बुझाने पर महाकाली-मंदिर में नृत्याभिनय करने को तत्पर हो गई है। आपको मैं निमन्त्रण देने आया था।"

योगीश्वर पुनः अट्टहास कर उठे, बोले :

"भक्त, नारी की माया में तू बहता जा रहा है !"

महाराज का मुख नत हो गया।

योगीश्वर ने अरवा की ओर संकेत करते हुए कहा :

"उस रजत-पात्र मे मथान किया हुआ पानक है। उसे पिलाना, वह मार्ग पर आ जावेगी। पर गुरु-भेंट याद रहेगा न भक्त! मै उस प्रदर्शन मे उपस्थित नही हो सकूँगा।"

"भगवन् की सेवा मे मै शीघ्र उपस्थित होऊँगा।" कहकर वे हठात् उठ खडे हुए।

× × × ×

कुछ घडी उपरान्त, उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर मे सौम्या, महाराज की विश्वस्त सेविका, जिसे साध्वी सरस्वती के ऊपर आँख रखने और समझा-बुझा कर मार्ग पर ले आने का कार्य सौपा गया था, गुप्त-गृह के द्वार पर आकर खडी हुई और रक्षणियो से वह हँसती हुई बोली

"साध्वी की वासना जगी कि नही ?"

आदर से खडी होकर, रक्षणियाँ हँस पडी।

"और तुम्हारी ?—ओ, लज्जा से मरी जा रही है। मन ही मन मेरी मङ्गलकामना कर रही होगी कि अच्छी आई। क्यो न ?—चुप क्यो हो री ?"

"आप विचित्र है, देवी ?" उनमे से एक ने कहा।

"तुम भी क्या साध्वी बनी रहोगी, दुष्टाओ ? जाओ, मिल आओ अपने तबतक मै यहाँ हूँ।"

कहकर वह कारा-द्वार की ओर बढी।

रक्षणियो के मन की इच्छित भावना को यो जगाकर वह कारा-गृह के भीतर प्रविष्ट हुई और यह निश्चय कर कि

रक्षणियाँ वास्तव मे हट गई हैं, वह आगे बढ, काष्ठ-पीठिका पर बैठी हुई एक श्वेत वस्त्र-धारिणी अचल मूर्ति के सम्मुख आ खडी हुई। उसे ध्यानमग्न देख कर वह बोली।

'साध्वी !"

ध्यानमग्न साध्वी का म्लान मुख ऊपर उठा, और सौम्या को देखकर उसका दबा हुआ श्वास धीरे-धीरे बाहर निकला :

"भिक्षुकी !"

"साध्वी, कितनी बार कहा कि शील-विपन्न के सम्मुख ऐसा आचरण प्रयोजनीय नही होता। मैं भिन्न हूँ।"

"तुम ऐसा क्यो विचारती हो, सौम्या ?"

"तुम्हारी आंखो में अविश्वास झलकता हुआ पाती हूँ। और क्यो ?"

"नही, नही। तुम ऐसा न कहो।"

साध्वी के इस आत्मीय आग्रह से सौम्या मुस्करा उठी और फिर वह बोली ·

"तुम प्रस्तुत हो न ?"

"किसलिए, सौम्या ?"

"मरने को !" खीझ प्रकट करती हुई सौम्या बोली, पर हंसी उसके अधरो पर उमड पडी थी।

"हाँ, मैं तैयार हूँ।" कथन के शाब्दिक अर्थ पर ही संतोष प्रकट करती ई साध्वी ने उत्तर दिया।

"तो भूलो मत, साध्वी, आज तुम्हे महाकाली के मन्दिर में नृत्य करना है ।"

"मुझे याद है ।"

"एक और बात याद रखनी होगी, साध्वी! इधर आओ।"

सौम्या भिक्षु की उस भवन के अन्तर्कक्ष की ओर बढी। सरस्वती भी उसके पीछे हो ली। एक सुरक्षित स्थान पर खडे होकर सौम्या ने उसे अपने निकट खींच लिया, कहा :

"मरना चाहती हो, तो एक सुअवसर मिल रहा है।"

"कैसा ? कब ?"

"योगीश्वर के यहाँ से महाराज तुम्हारे पान के लिए सधान की हुई सुरा लाये हैं। बोलो, पीओगी ?"

"पी लूंगी, सौम्या"

सरस्वती की इस सरल स्वीकृति पर भिक्षुकी हंस पडी, और अपने आंचल से उसकी तीव्रता को रोकने लगी। फिर स्थिर होकर बोली :

"कितनी भोली हो साध्वी! पर जानती हो कि उस पान के बाद तुम जिस प्राणी का दर्शन करोगी, उसके प्रति तुम्हारे मन मे विकार उत्पन्न होगा। पीने चली हो, तो मुझे यह तो बताओ कि वह भाग्यशाली कौन होगा ?"

"तुम।"

"मैं ?" सौम्या फिर हँस पडी, "पर मैं तुम्हारी तरह भोली नही हूँ कि महाराज दप्पण की ईर्ष्या का पात्र बनूं। सुरा-पान

के समय उपवन में तुम्हारे और महाराज के सिवा और कोई भी उपस्थित नही होगा। बताओ, पीओगी ?"

"दुष्टा !"

"तुम कह जो रही थी 'पीऊँगी और मरूँगी।' मैं पूछती हूँ आखिर किस पर ?"

"चुप न रहेगी।"

"मेरा कर्त्तव्य वंदिनी की आज्ञा मानना नही है। ऐसी अनधिकार चेष्टा तुम क्यो करती हो ? तुम जानती हो, मैं महाराज की विश्वस्त सेविका हूँ।"

"मैं जानती हूँ।" विभ्रमित साध्वी ने कहा। उसकी वाणी मद थी, मुख नत था। सौम्या के चन्चल स्वभाव को वह जानती थी, फिर भी इस कटु एकाकी जीवन की दुर्भावना साध्वी सरस्वती के मानस को ऐसा आच्छन्न कर गई थी कि सौम्या की मीठी ठिठोली भी उसके विश्वास को हिला जाती थी।

सौम्या की आँखें उसके मुख पर खेल रही थी, वह फिर बोली :

"एक बात और जानती हो, साध्वी !"

वह रुकी, पर साध्वी सरस्वती को अचल तथा मौन देखकर फिर कहने लगी

"मैं उज्जयिनी उपाश्रय की भिक्षुकी हूँ। अपने जीवन को महान् विपदा मे डालकर मैंने राज्य-सेविका का कार्य इसलिए

अपनाया है कि मैं उपाश्रय से हरण की हुई एक साध्वी की रक्षा तथा उसका मनोरजन कर सकूं। यह मेरा गुप्त पर प्रधान धर्म है।"

इस गम्भीर कथन का प्रभाव विचित्र ही हुआ–भिक्षुकी और साध्वी की आंखे परस्पर मिली, तो एक खिलखिलाकर हँस पडी और दूसरी साश्रु मुस्करा उठी। निरभ्र आकाश-सा वहाँ वातावरण स्वच्छ हो गया।

एकाएक सौम्या चौंक पडी–अधिक विलव होने का भय उसे सचेत कर गया, वह आतुरता से बोली :

"साध्वी विलम्ब हो रहा है। तुम्हे मेरे कथन को ध्यान से श्रवण करना होगा। आने वाली घटना को मैं पूर्णरूप से मनन कर चुकी हूँ। महावीर की कृपा से, मेरा विश्वास है, वह भी हमारे अनुकूल ही पडेगी। तो सुनो, उस समय वाटिका मे तुम चत्वाल पर बैठी होगी। महाराज किसी विशेष गुप्त स्थान पर खडे होगे। मै तुम्हे मधु-पात्र देने का प्रयत्न करूँगी, तुम आना-कानी की क्रियायें करना और उचित समय पर मैं उस पानक को तुम्हारे अतरीप की नीवी से बंधे पात्र मे डाल दूंगी। वह पात्र तुम्हे शीघ्र मिल जावेगा, समझी। मेरी स्थिति उस समय ऐसी होगी कि दूर पर खडे महाराज यह भेद नही जान सकेगे। फिर तुम शीघ्र लवि-दुकूल से अपने अग्रभाग को ढँककर उस रिक्त मधु-पात्र को अपने हाथ मे ले लेना। उसी क्षण मैं वहाँ से भग जाऊँगी। तुम पीने का हीला करना। महाराज, यह देखकर, तुम्हारे सम्मुख आ

उपस्थित हो जावेंगे। वे आशा से तुम्हारी ओर अग्रसर होंगे और तुम महाराज की ओर देखकर चकित हरिणी-सी 'योगीश्वर दहल ! योगीश्वर दहल !!' चिल्लाती हुई उनसे दूर, बहुत दूर भग जाना।—तुम भोली हो न, इस अन्तिम बात को नही समझ पाई होगी !"

तब उसने मूक खड़ी सरस्वती के कान मे धीरे से कहा :

"गुरु-शिष्य के बीच ईर्ष्या का प्रथम अकुर यो बोया जायगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है ! क्षमण सागर का आदेश है कि यह विरोध अत्यावश्यक है, अतः यह सुयोग हाथ से खोया नही जा सकता। तुम्हे यह करना ही होगा।"

सरस्वती फिर भी मौन ही रही।

× × × ×

कुछ काल उपरान्त, एक दिन सायकाल महाराज गर्दभिल्ल एक पुष्पित लता-कुञ्ज से निकलकर मध्य में छोटे से सरोवर की स्फटिक-शिला-निर्मित सोपान पर आ खडे हुए। सरोवर की साध्य शोभा अनुपम थी। अस्ताचल-गामी सूर्य की अनुरजित रश्मियाँ खिले कमलो का स्पर्श कर रही थी और जल-पक्षियो की केलि से उत्पन्न लोल लहरें आनन्द मे मग्न हँस रही थी। शीतल, सुगन्धित पवन बह रहा था। पक्षियो का कलरव हरित पात पात पर ध्वनित था।

उसी समय सौम्या के साथ साध्वी सरस्वती वहाँ आई। सरोवर के दूसरे किनारे पर वे खड़ी हो गई। महाराज की दृष्टि उधर जाते ही सौम्या हँसती हुई वहाँ से अदृश्य हो गई।

महाराज दप्पण का हृदय स्पन्दित हो उठा। प्रकृति की इस सुषमा मे खडी उस श्वेतावरण-वेष्टित नारी का सौन्दर्य कितना मोहक था! महाराज की आंखो मे वह उतर चुका था, आज हृदय मे रम जाना चाहता था। वे खिचे हुये उसके पीछे आ खडे हुए और मृदुता से बोले·

"देवि!"

साध्वी सरस्वती घूमकर सलज्ज दो चरण पीछे हट गई। उसके नत मुख पर अनुरजित किरणो की आभा पड रही थी, वह मन्द स्वर मे बोली:

"राजन्!"

"देवि, महाकाली के उत्सव पर तुमने जिस अनुपम कला का प्रदर्शन किया था, उसके लिए मैं बधाई देता हूं। सच कहता हूँ, देवी, मैं देखकर आत्म-विभोर हो गया था।"

"आप उदार हैं, राजन्!"

प्रथम वार सरस्वती का ऐसा मुक्त आचरण तथा मृदु सभाषण महाराज दप्पण को प्रभावित कर गया। आज के आयोजन का हेतु विशेष था और उसकी सफलता की सभावना उनकी मादक-दृष्टि मे अधिक स्पष्ट हो उठी, वे साग्रह बोले

"तुम्हे पुष्प अधिक प्रिय थे न, देवि!"

साध्वी सरस्वती शिप्रा-तट की स्मृतियो को नही भूल पाई थी, उसका मुख व्रीडा से रजित हो गया। उसने केवल कहा·

"हां।"

"उस कुञ्ज की ओर देखो–कितनी लताएँ प्रगाढ आलिगन मे बद्ध होकर पुष्पो का उपहार देना चाहती हैं। ये सब हिलहिलकर अपने मन की प्रतिस्पर्द्धा प्रकट कर रही हैं, देवि !"

"क्यो ?"

"क्यो !" महाराज पुलकित थे उसकी सरलता पर। वे मुस्कराकर बोले :

"इसलिए कि उनमें से प्रत्येक की इच्छा तुम्हारे अग का शृंगार बनने की है !" साध्वी सरस्वती सिर नीचा किये मौन रही।

'वह सौभाग्य किसे प्रदान करोगी, देवि ?"

"नही, नही। उनकी ऐसी भावना कब हुई है ?"

"तुम किसकी भावना जान सकी हो ?"

साध्वी सरस्वती इस बार भी मूक रही।

एकाएक उस सरोवर में हलचल हुई। एक पालित कलहस का जोडा रति-केलि में लीन था। महाराज दर्पण जानते थे, उन्होने साभिप्राय उधर देखा और सरस्वती ने यो ही।

"देखती हो, देवि !" महाराज ने कहा, "क्या मानव-जीवन का यह स्वाभाविक धर्म नही है ?"

"यह सब मैं नही जानती, राजन् !"

"देखकर क्या नही जान सकती। मेरे निकट आओ, देवि !"

महाराज के आदेश पर जैसे बाण खाकर कोई व्यथित हो उठता है, वैसे ही साध्वी सरस्वती कातर आर्त्तनाद कर उठी, और वह चकित-सी चिल्ला उठी

"योगीश्वर दहल ! यो "

"क्या हुआ, देवि ?"

"वह वह उस पान के बाद आपके और मेरे बीच खडा दिखाई दे जाता है, और फिर उसके अदृश्य चरणो की स्पष्ट ध्वनि के पीछे पीछे मेरे हृदय की गति बरबस खिच जाती है आपके प्रति एक कटु विरक्ति की भावक भर देखो, देखो, मैं खिची जा रही हूँ । "

और अनमनी, पर विवश अबला-सी सरस्वती जैसे किसी दुर्दमनीय, हिंसक शक्ति से आकर्पित हुई दूर दूर चली जा रही थी । उसकी व्यथा से महाराज गर्दभिल्ल अवाक् रह गये । पर ज्योही योगीश्वर की छलना मूर्तिमान होकर उनके नेत्रो मे व्याप्त हुई, वे क्रोधान्ध होकर चिल्ला उठे

"साध्वी, उस योगीश्वर के पाखण्ड का खण्डन करूँगा—उसने मझे धोखा दिया है, वह वचक है !—और यह तुम्हारी व्यथा, नही, इसका प्रतिशोध आवश्यक है ! प्रतिशोध !—ओ योगी दहल, तू शक्तिशाली है, पर पर दर्पण भी इतना हीन नही कि वह अपने आत्म-सम्मान की रक्षा न कर सके । साध्वी, प्रिये, तुम्हे योगी दहल की इस माया से शीघ्र मुक्त करूँगा । और फिर तुम्हारे सम्मुख मै पहिले प्रतिशोध चाहता हूँ, प्रतिशोध !"

× × ×

बहुत काल उपरान्त, घोर अंधियारी रात्रि की मध्य घड़ी में आम्रकुटी के द्वार की कुण्डी मंद मंद ध्वनित हो उठी। द्वार खुला, और श्रमण सागर एक अपरिचित आगन्तुक को सामने खडा देख विस्मित हुए।

कुटी में जलते हुए दीप की हलकी ज्योति मे वह आगन्तुक वेश-विन्यास से वैष्णव प्रतीत होता था। इसके पहिले कि श्रमण कुछ कहे उसने ही हाथ से उन्हें कुटी के भीतर चलने का सादर सकेत किया। और तब वे दोनो कुटी में प्रविष्ट हुए। आगन्तुक द्वार बन्द करना नही भूला।

श्रमण सागर ने, पीठिका पर बैठ कर, बडी नम्रतापूर्वक अतिथि से बैठने की प्रार्थना की, और फिर प्रबल जिज्ञासा से उसकी ओर वे देखने लगे।

"नही पहिचाना, श्रमण !" यह कहकर वह आगन्तुक हँस पडा, बोला . "मैं तब अपनी कला मे सफल हुआ न।"

"अरे, प्रवुद्ध तीक्ष्ण !"

"हाँ क्षमण !" अभिवादन करते हुए प्रवुद्ध तीक्ष्ण ने कहा।

'कोई नवीन समाचार !"

"अवश्य है ! इसीलिए अर्द्ध-रात्रि के समय श्रमण को मैने जगाने का साहस किया है।"

"कहो।"

"क्षमाश्रमण मातृभूमि का परित्याग कर पारस-कूल के लिए रवाना हो चुके हैं।"

"पारस-कूल के लिए !"

"हाँ, श्रमण ! और आदेश दे गये हैं कि उज्जयिनी मे यह प्रचार किया जाना चाहिये कि आचार्य कालक का देहावसान हो गया है। केवल साध्वी के सम्मुख इस सूचना की असत्यता प्रकट कर दी जावे। उनका दूसरा आदेश यह है कि सघ के सगठन, गुप्त रीति से राज के प्रति विरोध भावना के उद्दीपन और धन-सग्रह की ओर सबको तन-मन से दत्तचित्त हो जाना चाहिये।"

"ठीक है। और कुछ, तीक्ष्ण !"

"श्रमण की अनुकम्पा।"

"धर्मवृद्धि, भक्त ! अब तुम विश्राम करो।"

"जो आज्ञा।"

: पाच

कैसे आश्चर्य की बात है कि पारस-कूल के निकटवर्ती अष्ठोला पर निर्मित एक मुनि-वास का शिखर लहराती सत्-धर्म-पताका से सुशोभित था !

वह कौन महाप्रतापी व्यक्ति होगा जिसके चरणो पर अनार्यों की हिंसक-वृत्ति श्रद्धा-भक्ति मे परिवर्तित होकर बिखर पडी थी ?

उस मुनि-वास के द्वार पर जो मुनि तेजोमय शान्त-मुद्रा में खडा हुआ है क्या वही तो उस श्रद्धा-भक्ति का पात्र नही है ? पर वे तो मालव-भूमि से निर्वासित उज्जयिनी-उपाश्रय के क्षमाश्रमण निमित्त-वेत्ता आचार्य कालक है। वे न विक्षिप्त प्रतीत होते हैं और न मृतक ही। उनकी सत्ता वैसा ही व्यक्तित्व, वैसा ही गाम्भीर्य, वैसा ही तेज लिए हुए है जैसा कि उज्जयिनी उपाश्रय की गधकुटि के द्वार पर खडे हुए क्षमाश्रमण में देखा जाता था।

आचार्य कालक कुटि के द्वार पर मौन खडे सम्मुख फैली हरित राशि के परे अनन्त समुद्र की उत्ताल तरगो के प्रवाह को देख रहे थे। उनके मानस में भी वैसे ही लहरें उठ उठ विलीन हो रही थी। उज्जयिनी नगरी तथा उसका उपाश्रय और उनसे लिपटी सुख-दुखमय घटनाये सब स्पष्ट थी—पर एक दुर्भावना इतनी पीड़क थी कि अब केवल वे घटनाएँ ही उनकी अपनी रह गई थी डूबने के लिए, वह देश तो सागर

के छोर के समान ही अदृश्य तथा अप्राप्त था। और यह अपार जल-राशि का प्रवाह जो एक समय उन्हे अपनी मातृ-भूमि की ओर बहा ले जाने के लिये व्यग्र था, वही अब विराट् रूप धारण कर अजेय बाधक-सा सम्मुख खडा है, और इस विदेशीय भूमि के कूल पर ही बहा देने को गति-शील है।

उनका ध्यान सध्या-काल के सूर्य्य की ओर आकृष्ट होता—वह अस्ताचल पर खडा अपनी आदि-दिशा की ओर कोमल आसक्ति से देख रहा है और फिर भी धीरे धीरे किसी अपरिचित प्रदेश की ओर डूबा चला जा रहा है। आचार्य कालक की खुली आँखो मे भी वैसी ही आसक्ति झलक पडती। उनके मन मे यह प्रश्न उठता कि क्या मेरा चरण भी सूर्य की भाँति परिधि का अतिक्रमण तो नही कर गया है।

प्रकृति का प्रत्येक रूप उनके निर्वासन काल की विभीषिका को अधिक गाढ तथा पीडक बना जाता। इस भूमि के पेड-पौधे, फल-फूल, पशु-पक्षी आदि सब चराचर मे कोई एक भी उनका न हो सका और न वे उन सब के हो सके। ऐसा विचार उठते हो उनका हृदय व्यथा से कुण्ठित हो जाता कि फिर जिस दस्यु-टिड्डी-दल को वे अपनी मातृ-भूमि की ओर ले जाने का आयोजन कर रहे हैं, उन सब को वहाँ के पेड-पौधे, फल-फूल, पशु-पक्षी आदि सब चराचर देखकर कैसे अपना सकेंगे?

उनकी आत्म-चेतना यही कह जाती कि जो कुछ हो रहा

है, वह अच्छा नही हो रहा है। अप्रमाद-सूत्र-वाली महावीर की वह वाणी उन्हे याद आ जाती कि 'धर्म पर श्रद्धा लाकर भी शरीर से धर्म का आचरण करना बडा कठिन है। ससार में बहुत से धार्मिक मनुष्य भी काम-भोगो में लिप्त रहते हैं। हे गौतम, क्षणभर भी प्रमाद न कर!' और वे अपनी स्थिति पर विचार करते, तो गर्दभिल्ल-सरस्वती काण्ड के विरुद्ध जो पग उठाया गया था, उसके अन्तर्गत एक अचिन्त्य प्रमाद प्रेरणा ही दिखाई दे जाती। इस सत्य की उपेक्षा कर वे अपने को धोखा नही दे सकते थे। फिर भी, उनके लिए अब और कोई मार्ग था भी नही। भवन निर्माण हो चुका था, वह मिट्टी का घरौंदा नही था कि पलमात्र में ढहा दिया जाता। और जब ऐसा करना असम्भव था, तो उनका उद्योग दो आधार लेकर दृढता प्राप्त करता—एक था, शक-साहो को सत्-धर्म की ओर प्रवृत करना, दूसरा था, अत्याचारी गर्दभिल्ल का मूलोच्छेदन कर साध्वी सरस्वती को मुक्त करना।

चिन्तन का एकाकीपन ही आचार्य कालक के सम्मुख 'भाव' और 'कर्म' की इस विरूपता को स्पष्ट करता था; पर वे क्रियाशील होकर जब अपने ध्येय सिद्धि के लिए पग उठाते तो उनके मस्तिष्क में युग विचार-धारा प्रवाहित हो उठती थी। सत्-धर्म के प्रचार की सफलता में निद्य साधन को स्वीकार करना उचित है, क्योकि आखिर साध्य का मूल्यांकन साधन से नहीं लगाया जा सकता—ऐसा सोचा जाने लगा

था। उसका भी विचार ऐसे तर्क से प्रभावित हो चुका था। विशेषकर सत्-धर्म के प्रचार का प्रश्न सबल बनकर उनके मस्तिष्क की तर्क-बुद्धि को प्रदीप्त कर देता था—आखिर वे निमित्त-ज्ञाता थे !...

फिर भी, अभी उनकी भावना जैसी मुखरित हो रही थी, उनकी तरल आंखे क्षितिज मे कुछ खोज रही थी, पर खोज नही पा रही थी।

सहसा उस सान्ध्य कलरव को भङ्ग करती हुई भिक्षु भानु की ध्वनि सुनाई दी

"आचार्य, साहि पधार रहे है !"

ध्यानभङ्ग होते ही, आचार्य कालक ने स्वस्थता प्राप्त की। वे निश्चिन्त से बोले :

"भीतर दीप जला दो। और तब उन्हे लिवा लाओ, भानु ! मैं भीतर ही मिलूंगा।"

"जो आज्ञा, क्षमण !"

उस कुटिया के सम्मुख फैले मैदान मे एक दीर्घकाय वीर पुरुष, जो सिर पर रत्नजटित तिग्रखोदा, शरीर पर बहु-मूल्य वस्त्राभूषण धारण किये था, उपस्थित हुआ। उसके मुख पर चिन्ता की रेख स्पष्ट खिची हुई थी, और वह चारो ओर व्यग्र-सा देख रहा था। शायद किसी को वहां न देखकर ही, वह पीछे आते हुए भिक्षु की ओर घूमकर बोला ·

"आचारज !"

भिक्षु भानु एकाएक साहि की उपस्थिति और उसकी व्यग्रता अनुभव कर आश्चर्यान्वित हो गया था, और इसी कारण उसके प्रश्न का उत्तर वह अपने हाथ के संकेत से ही दे सका। संकेतानुसार साहि उस कुटि के भीतर प्रविष्ट हुआ।

भीतर आचार्य कालक एक पीठिका पर बैठे हुए थे। साहि ने उन्हे देखते ही अनभ्यस्त रीति से झुककर अभिवादन किया। आचार्य ने कहा :

"धर्म वृद्धि, साहि! आपके आगमन की घडी के अनुसार मुझे घोर चिन्ता का आभास मिल रहा है। पर, पहिले आप वहाँ स्थान ग्रहण कीजिये।"

यथास्थान बैठने के उपरान्त, साहि ने कहना आरम्भ किया :

" सही है, आचारज! हालत बहुत खराब है।"

"उल्लेख कीजिए।"

"हमारे साढाणुसाहि मिथ्रदात्त ने हमारे पास अपने शाही-एलची के द्वारा एक कटार और एक पैगाम भेजा है, लिखा है, 'यदि तुम अपने कुनबे को बचाना चाहते हो, तो अपना सिर इस कटार से काट लो क्योंकि तुमने मेरे अब्बाजान आर्त्तवान को मारने मे काफी हिस्सा लिया था और अब सुना है कि तुमने एक जादूगर हिंदुक का मजहब मजूर कर लिया है।' यह कैसी खोटी किस्मत है! और आपने क्या क्या कहा था!"

इस सूचना से कुछ देर के लिए आचार्य कालक मूक बैठे रहे उनके मुख पर गभीरता छा गई। पर तुरन्त ही, उनकी मुखाकृति की बदलती रेखाये स्पष्ट प्रकट कर गईं कि वे किसी निर्णय पर पहुँच रहे है। आखिर वे दृढता से बोले :

"साहि, हमने क्या कहा था ? यही न, कि आपका भविष्य उज्ज्वल है। अगर सत्-धर्म मे आपकी ऐसी ही दृढ प्रवृत्ति रही, तो अवश्य एक न एक दिन आपका यशोगान दिग्दिगन्त मे गूंज उठेगा। क्या विश्वास नही होता ?"

"होता क्यो नही, आचारज ! पर साढाणुसाहि की ताकत का मुकाबला "

"क्या साढाणुसाहि का राजदूत आपके पास ही आया है ?"

"मेरे भेदिये ने खबर दी है कि सीस्तान के सब साहियो के पास ऐसा ही शाही-फरमान गया है।"

"सब साहियो के पास ?"

"हाँ, आचारज !"

"उनके पास भी जिन्होने अबतक सत्-धर्म को स्वीकार नही किया है।"

"हाँ, उनके पास भी।"

"कारण क्या बतलाया गया है ?"

"यही कि उन साहियो ने मिथ्रदात के अव्वाजान आर्त्तवान को मारने मे हिस्सा लिया था।"

"वहुत ठीक !" परम सन्तोष की श्वास लेकर आचार्य कालक फिर कहने लगे, "मैं आपको साढ़ाणुसाहि के साथ संघर्ष की वात नही कहता, साहि !"

"तो ?"

आचार्य कालक ने उस विदेशी साहि के जिज्ञासा-भरे मुख पर अपनी दृष्टि जमा दी। फिर अपना मुख उन्नत कर वे वोले :

"आज का दिन मगल का है, साहि ! गणना के अनुसार यह दिन आना था। और इसी दिन की आशा ने मुझे मातृ-भूमि को त्यागने को भी वाध्य किया था। अवसर से सुलाभ उठाना उचित है, साहि !"

"लाभ !—लाभ कैसा ?"

"आपसे स्पष्ट वात कह देना अधिक सामयिक प्रतीत होता है, साहि ! मेरे पारस-कूल आने का एक ध्येय था। उज्जयिनी का गर्दभिल्ल नामक राजा है। उसने मेरी वहिन साध्वी सरस्वती को हर लिया है। वह अत्याचारी, विधर्मी और विलासप्रिय है। साहि, राजा के लिए अत्याचारी और विलासी होना घातक है। उसका पराभव निश्चित है। गर्दभिल्ल सत्-धर्म के प्रवल द्रोही एक आजीवक के आदेशानुसार जैन-संघ का नाश कर देना चाहता है। साध्वी का हरण उसके इस संकल्प का पहिला उद्योग है। साहि, आप वीर हैं, जीवन आपके लिए संग्राम है केवल। अपनी समस्त शक्तियों के उत्सर्ग करने के वाद प्राप्त विजय व पराजय के मूल्य को

आप जानते हैं। वैसे ही उत्कृष्ट ग्रह पडे हैं, साहि, आपके। घर मे ही रहने से आपकी शक्ति केवल साधारण कलह मे क्षय होती रहेगी, और मैं आपको एक प्रशस्त क्षेत्र की ओर आह्वान कर रहा हूँ—जहाँ आप अपनी शारीरिक शक्ति का, अपनी बौद्धिक प्रतिभा का, अपनी धर्म-परायणता का मगलमय परिचय दे सकते हैं। उज्जयिनी की जैन प्रजा, राज-गुप्त-गृह मे बदिनी साध्वी सरस्वती और आपके अतिथि आचार्य कालक की आशा आपके अभियान पर आश्रित है। साहि, क्या कर सकेंगे ? इस अभियान का अर्थ है हिन्दुक देश के एक महान भाग का महाराजाधिराज बनना, असख्य रत्न-राशि का एक-मात्र स्वामी होना, और इतिहास के स्वर्णपृष्ठो पर एक महान विजेता के रूप मे अक्षय कीर्ति प्राप्त करना। साहि, क्या कर सकेंगे ? इसके विपरीत, इसी छोटे देश की सीमा मे पडे रहकर साढाणुसाहि की भेजी हुई कटार से साहि, कुछ श्रेष्ठ कार्य ही करना होगा।"

"आचारज, आप आलिम हैं। मैं खुश हूँ कि आपने मेरे सामने एक खुला मैदान रक्खा है, जहाँ बहादुर जी सकता है। फिर भी, दूसरे साहियो की राय लेना जरूरी है।"

आचार्य कालक ने दृढता से कहा

"अवश्य ! यह उचित है।"

साहि अभिवादन कर उठते उठते बोले

"मेरा दिल अब हल्का हो गया है, आचारज !"

"आपके शुभ की कामना करता हूँ, साहि ! आपकी धर्म मे वृद्धि हो !"

उज्जयिनी के उपाश्रय मे—

क्षमण सागर—"आचार्य का आगमन इतना द्रुत होगा, मैंने कल्पना नही की थी, भानु !"

भिक्षु भानु—"आचार्य की सहज शक्ति तथा इस काल विशेपकर उनकी लगन अपरिमेय-सी प्रतीत होती है। वे साध्वी सरस्वती की मुक्ति के लिए अत्यन्त आतुर हैं।"

क्षमण सागर—"सत्य है।"

भिक्षु भानु—"साध्वी सरस्वती कैसी हैं ?"

क्षमण सागर—"वे ठीक हैं। अनेक भिक्षुकियाँ अन्त.पुर में छद्मवेश में निवास कर रही हैं। उनमे सौम्या की कुशलता अधिक प्रशंसनीय है। उस पर महाराज दप्पण का विश्वास अटूट है, अत. वह महाराज के प्रत्येक प्रयत्न का अवलोकन करतो रहती है और सकौशल उसे अपने हित का साधन बना लेती है। राज-भवन की गुप्त सूचनाओ से मैं पूर्ण अवगत रहता हूँ। मै पुष्टि से कह सकता हूँ कि सौम्या तथा अन्य भिक्षुकियो की रेखदेख मे साध्वी सरस्वती सुरक्षित है। यह बात तुम आचार्य से निवेदन कर देना, भानु !"

भिक्षु भानु—"क्षमाश्रमण को इस समाचार से अवश्य पूर्ण तुष्टि होगी।'

क्षमण सागर—"आचार्य ने भविष्य की गति-विधि किस प्रकार निर्धारित की है।"

भिक्षु भानु—"सौराष्ट्र गणतत्र पर विजय प्राप्त की जा चुकी है, क्षमण !"

क्षमण सागर—"शुभ है। पर क्या सौराष्ट्र गणतत्र इतने अशक्त थे, भानु !"

भिक्षु भानु—"शक आक्रमण एकाएक हुआ था। गणतत्र युद्ध के लिये तैयार नही थे। अगर सगठित होने का अवसर उन्हे मिल जाता तो इतनी शीघ्र पराजित होना असभव ही था। साथ ही, अधिकाश गणतत्र तो सत्-धर्मानुयायी हैं। उन्होने आचार्य कालक के साथ आने वाले विदेशियो का स्वागत ही किया। वहाँ के श्रमण-सघ वहुत काल से इसी हेतु प्रयत्नशील थे। क्षमा करे, श्रमण, उज्जयिनी की स्थिति कैसी है ?"

क्षमण सागर—"मुझे सतोष है।"

भिक्षु भानु—"वर्षा ऋतु वाधक है, पर आचार्य कालक की नीति अद्भुत है, क्षमण ! उनका कथन है कि प्रभु महावीर की ओर से यह मगलमय अवधि मिली है। एक ओर यातायात के वद होने से उज्जयिनी के मन्त्रि-मण्डल को हमारे आगमन का तनिक भी भान नही होगा, और हमारी गति-विधि का रहस्य भी प्रकट नही होगा, दूसरी ओर इस वीच हम सैन्य तथा धन का सग्रह और अन्य भारतीय राजाओ की सहायता प्राप्त कर सकेंगे। क्षमण, आचार्य

कालक का विचार है कि शक-महाक्षत्रप के पास धन का अभाव है और वे लोभी हैं, इसलिए रुष्ट से प्रतीत हो रहे हैं, और उनके सैनिक भी हतोत्साह हैं। इस दिशा मे आप कितनी सहायता कर सकते हैं, आचार्य ने यही जानना चाहा है।"

क्षमण सागर—"धन का प्रबन्ध है, भानु। और मेरा विश्वास है कि भविष्य मे जितनी आवश्यकता होगी, उतना और सग्रह किया जा सकेगा। उज्जयिनी के उपासक श्रेष्ठी कर्त्तव्य-च्युत नहीं होंगे।"

भिक्षु भानु—"इस सहायता तथा आश्वासन से आचार्य कालक की घोर चिन्ता दूर होगी। श्रमण, मुझे प्रतीत होता है कि आचार्य शकराज के प्रति दिन-प्रति-दिन विश्वास खोते जा रहे हैं। वे कभी कभी बड़े चिन्तित तथा उत्तेजित देखे गये हैं।"

क्षमण सागर—"क्यो ?"

भिक्षु भानु—"मुझे शक जाति के स्वभाव तथा व्यवहार में ऐसी जडता व स्वार्थपरता दृष्टिगोचर होती है कि वे अवसर पर इन विकारो से प्रभावित होकर सत्-धर्म को भी तिलाजलि दे सकते हैं—शायद आचार्य की चिन्ता का यही कारण हो, पर मैं दृढता से कुछ नही कह सकता।"

क्षमण सागर—"तुम्हारा अध्ययन अगर सत्य है, तो यह भविष्य के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। फिर भी, आचार्य के सम्मुख वर्तमान प्रमुख है। वे समय पर यथोचित कार्य करेंगे।"

भिक्षु भानु—"हाँ, क्षमण ।"

क्षमण सागर—"लौटने का विचार कब का है, भानु !"

भिक्षु भानु—"आपकी आज्ञा मिल सके तो आज अर्द्ध-रात्रि ही को रवाना हो जाना चाहता हूँ ।"

क्षमण सागर—"जैसी तुम्हारी इच्छा । तबतक सारा प्रबन्ध हो जायगा भानु, ऐसी मुझे आशा है ।"

× × × ×

उज्जयिनी राजभवन मे—

एक कुज से निकल भिक्षुकी सौम्या ने चुपचाप आकर भाव सिन्धु मे डूबी सरस्वती के कधे पर अपना हाथ रक्खा । साध्वी सरस्वती चौक पडी, और घूमकर बोली

"कौन ?"

"मै हूँ ।" सावधानी से चारो ओर देखकर सौम्या ने फिर कहा "महाराज से क्या क्या बाते हुई, साध्वी ? आप अब प्रणय-लीला मे भी प्रवीण हो गई है !"

"यह सब तेरी शिक्षा है, दुष्टा !" भिक्षुकी हँस पडी और बोली

"शीघ्र ही इसका शुभ फल होगा, साधिका !"

"मै कुछ नही चाहती, दुष्टा ! इन प्रपचो से मै व्यथित हूँ । सच, इतनी थक गई हूँ कि इस बन्धन से मुक्ति चाहती हूँ ।"

"सुनती हूँ, अब आप शीघ्र राज "

इस अर्द्ध-उच्चरित शब्द के सकेत-मात्र से श्वेत-परिधान से परिवेष्ठित साध्वी सरस्वती का कृश शरीर कंपित हो उठा। वह विशेष-भाव-भगी से भिक्षुकी की ओर देखने लगी जिससे वह परिचित-सी हो गई थी। सौम्या मुस्कराकर बोली :

"फिर वही सदेह !"

कुछ देर मौन रहने के बाद साध्वी कहने लगी :

"जीवन ऐसी विवशता भी लिए हुए होता है, इसका अनुभव मेरा नया नया ही है, सौम्या ! सत्-धर्म की साधना मे मैंने दुख—घोर दुःख सहा है। साधना-क्षेत्र में पाया वह दुःख हृदय की प्रगतिगामी प्रेरणा को कुंठित नही कर जाता, विपरीत, परिणाम-रूप वह स्वय प्रेरणात्मक होने से मुझे अभि-प्रेत-सा लगता था। उसको सहने मे मुझे एक अपूर्व आत्मतृप्ति की अनुभूति होती थी। इस कारा का दुःख, ओ सौम्या, न मैं उल्लेख कर सकती हूँ और न तू शायद उसका समानुभव कर सकती है। मै इस उपवन मे बैठी हूँ, चारो ओर यहाँ प्रकृति अपने वरदान को बिखेर रही है, पर मुझे तो इसमे भी कारा की वह निगूढ अंधियारी दृष्टिगोचर होती है, जो मेरे स्तर स्तर को कंपित कर जाती है। ऐसे अवसर पर अगर कोई विश्वास-पात्र भी मुझे साकेतिक वाणी मे कुछ कह देता है, मुझे भय होता है कि वह भी उस अन्धकार का एक अग तो नही है। सौम्या तू मेरी है। तेरे प्रति सदेह करना मेरी दुर्बलता है; पर मैं पूछती हूँ क्या वह स्वाभाविक नही है। सच कहती हूँ तेरी वार्ता-शैली से मेरे हृदय मे जब वह

दुर्विचार उठता है कि तू राजा की ओर से तो यह सब प्रपंच नही कर रही है, तो मेरा अग-प्रत्यग सिहर उठता है। तेरे सिवा मेरा हितचिन्तक यहाँ और है कौन, कह तो !"

साध्वी की गम्भीरता सौम्या की उन्मुक्त विनोद-प्रियता को विचलित न कर सकी, वह मुस्कराती हुई बोली :

'और अभी महाराज से जो वार्ता हुई थी, उसकी सिहरन कैसी थी, साध्वी !"

"ये भेद भरी बातें मेरा उपहास कर रही हैं, भिक्षुकी !" कहते हुए पवन-झोके से बुझे दीप-सी प्रभाहीन होकर वह पृथ्वी की ओर निहारने लगी।

सौम्या की विनोद-प्रियता भी लुप्त हो गई, वह साध्वी को विकल नही देखना चाहती थी। वह बोली

"जीवन के इस कटु पक्ष मे आपका उपहास करना ही मेरा अभिप्राय होता तो आपके पवित्र चरणो की रज लेकर मैं सघ को छोड कही अन्यत्र चली जाती। मैं ही नही जान सकी, तो इस सत्य को अन्य कौन जान सकता है कि आपकी केवली-प्ररूपित-धर्म की शरण अपूर्व है। फिर भी, मै आखिर नारी हूँ, इसीलिए मै आपके भी उसी पक्ष से विनोद कर लेती हूँ सोचकर कि इस प्रकार इन घडियो की व्यथा को क्षणभर के लिए तो भूला जा सकता है, और और आप अप्रसन्न होती हैं !"

साध्वी सरस्वती के नेत्र सजल हो उठे जैसे किसी अज्ञात प्रदेश मे छिपी एक बदली आकाश-मडल मे छा गई हो !

अनुतप्त साध्वी का यह करुण-रूप सौम्या को विचलित कर गया, वह धीरे धीरे सरस्वती के चरणो के पास आकर बैठ गई, बोली :

"साध्वी !"

साध्वी अचल बैठी रही, उसके नेत्रो से अविरल आँसू गिरने लगे।

"इस अप्रिय स्वतंत्रता के लिए मैं क्षमा मांगती हूँ, साध्वी ! आपको दुःख देने का अभिप्राय तो मेरा था नहीं। मैं स्वीकार करती हूँ कि इस अवधि के सामीप्य के बाद भी मैं आपको समझने में असमर्थ रही हूँ। क्या आप मुझे क्षमा कर सकेंगी ?"

"क्षमा !" मंद स्वर मे साध्वी ने इस बार कहा, "साध्वी क्यो न क्षमाकर सकेगी, सौम्या। पर, विनोद से तूने जिस पक्ष को जगा दिया है, वह तो क्षमा नहीं करना चाहता " बहुत दिनो से यह पक्ष चपला-सा मेरे हृदय में आभासित होता रहा है, सावन ऋतु में यह होना स्वाभाविक भी है न। मुझे मालूम है, मेरी इस अनुभूति के क्षण को एक समय स्वय महाराज दप्पण ने भी देखा था, और आज तूने इन आँसुओ के द्वारा देख लिया है उसे, सौम्या ! मेरी समय समय की संदेह-वृत्ति से ही तूने क्या यह नही जाना कि मेरा नारीत्व अभी अस्त नहीं हुआ है ?" अभिभूत सौम्या साध्वी के नत गम्भीर मुख की ओर एकटक देखती ही रही, बोली नही;

साध्वी सरस्वती ने, क्षण भर बाद, सौम्या की ओर देखा और कहा

"पर यह सत्य है, सौम्या, कि मरुभूमि में पुष्पलता की भांति नारीत्व का यह विकास मुरझाने को ही हुआ है। ज्ञातृपुत्र से मेरी मौन प्रार्थना सदा यही रहती है कि मुझे प्रकाश दो।" सौम्या के मुख से भी अनायास ही निकल पडा :

"साध्वी, ज्ञातृपुत्र आपको प्रकाश अवश्य देंगे।" फिर स्वस्थता प्राप्त कर वह बोली

"महाराज से क्या "

"महाराज आज मुझे सूचना देने आये थे, जैसे उसे सुनने के लिए मै आतुर रही हूँ। उन्होने कहा कि मुनिवास से आये हुए एक शिष्य के द्वारा उन्होने उस असाधु को कहला भेजा है कि उज्जयिनी के अधिपति वे स्वय हैं, वह आजीवक नही। उन्होने फिर यह भी कहा कि इस सूचना के उपरान्त उन्होने राज-चर के द्वारा उस आजीवक के लिए निर्वासन-आज्ञापत्र भेज दिया है। सौम्या, इस अबोध महाराज पर मुझे हँसी आ गई, और शायद वह समझा होगा कि मैं सुखानुभूति प्रकट कर रही हूँ। मेरी समझ मे नही आता कि क्यो मेरे लिए इतने भीषण सघर्ष का सूत्रपात हो रहा है ?"

"एक शुभ समाचार सुनाने आई थी, साध्वी।"

'क्या ?"

"क्षमा-श्रमण सौराष्ट्र आ चुके हैं।"

"क्षमा-श्रमण !"

"हां । उनके साथ जैन-धर्मावलम्बी शकराज भी है। वे शीघ्र ही आपको मुक्त करेंगे।"

"शकराज और मेरी मुक्ति ! ये कैसी बातें हैं भिक्षुकी ?"

"यह आपको स्वयं आचार्य आकर बतावेंगे। मुझे इतनी ही सूचना मिली है।"

"आचार्य ने यह क्या किया ?"

असह्य वेदनाभरे स्वर में ये खडित उद्गार साध्वी के मुख से निकले। उसके सामने होने वाले भावी नर-यज्ञ की विभीषिका नृत्य करने लगी। और यह सोचकर कि हिंसा का सारा पाप उसके अहिंसात्मक व्रत की विडम्बना करेगा, वह कांप उठी। वह व्यथित होकर चिल्ला उठी :

"ज्ञातृपुत्र, मुझे क्षमा करो !"

× × × ×

सौराष्ट्र के क्षमाश्रमण-संघ में—

केवल शकराज आचार्य कालक के सम्मुख विराजमान है। दोनो मौन और विचारमग्न हैं। कुछ देर बाद ही शकराज ने अपना मुख ऊपर उठाया, और कहा :

"आचारज, वरखा के खत्म होते ही हमला कैसे हो सकता है ?"

"मैं यह नही कहता, शकराज। पर चाहता हूं कि जब

सुविधा मिले उज्जयिनी की ओर हमारी सेना प्रस्थान कर दे। मैं गणना कर चुका हूँ।"

"यह सब माकूल है, पर "

"पर क्या ?"

"आचारज, माफ करें—पर यह कि दौलत की कमी "

"इसका प्रबन्ध हो चुका है।"

"क्या ? हो चुका है। तब ठीक है, आचारज ! ये सब दूसरे साहि दौलत की कमी महसूस कर रहे थे और नाराज़ थे। लश्कर भी इनाम चाहता है। इन सब की खुशी ही मे हमारी जीत है।"

"मुझे यह मालूम है, शकराज !"

"मैं क्या ऐलान कर दूं तब ?"

"यही कि कल इच्छित पुरस्कार महा-क्षत्रप की ओर से सब को दिया जायगा। क्यो न, शकराज मयूस ?"

शकराज का मुख खिल उठा। उन्होने संतुष्टि-सूचक भाव से सिर हिला दिया। उसी समय बाहर से एक साधु की आवाज़ आई

'क्षमाश्रमण, एक विधर्मी आपसे मिलना चाहता है !"

क्षमाश्रमण का मुख खिलता हुआ प्रतीत हुआ, वे बोले :

"यही भेज दो, भिक्षु !"

"जो आज्ञा, भगवन् !"

वह विधर्मी भीतर आया और पहिले किसी अन्य व्यक्ति की उपस्थिति का भास पाते ही वह चौंक पड़ा, पर दूसरे ही क्षण शकराज को पहिचान कर उसने मुस्करा दिया। उसने आचार्य के चरण स्पर्श किये, फिर शकराज का अभिवादन किया।

आचार्य कालक बोले :

"धर्मवृद्धि हो, भक्त ! सूचना स्पष्ट कहो।"

"आजीवक दहल ने महा-कुपित होकर राजाज्ञानुसार उज्जयिनी त्याग दी है।"

आचार्य कालक का मुख हर्षातिरेक से अनुरञ्जित हो गया। वह शकराज से बोले।

"मङ्गलमय समाचार है, शकराज ! तुम उस महात्मा की शक्ति नही जानते। उसके वहाँ से हटने का अर्थ है कि हमने वास्तव मे आधा युद्ध जीत लिया है। श्रमणशील, तुम विश्राम करो। तुम्हे यथोचित पुरस्कार मिलेगा।"

उसके बाहर जाने पर, आचार्य कालक ने शकराज से कहा :

"उद्योगी पुरुष को सब कुछ मिल जाता है, मयूस ! मेरी वाणी असत्य नही हुई है।"

"मै आपके हुक्म का ताबेदार हूँ।"

"मेरे ध्यान का केन्द्र साध्वी सरस्वती है, शकराज !

उसका जब उद्धार होगा, मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी। उज्जयिनी-पति दप्पण विलासी है . "

"और सुना है, आचारज, सरसुती खूबसूरत है, जवान "

आचार्य कालक चौंक पडे, सूक्ष्म दृष्टि से उन्होने शकराज की मुख-मुद्रा का अवलोकन किया। वे डूबते हुए स्वर मे बोले:

"वह साध्वी है, मयूस !"



: सात :

जिस नरमेघ-यज्ञ की आशका-मात्र से ही साध्वी सरस्वती का हृदय कांप उठा था, उसमें प्रथम आहुति पडते ही अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी । प्रान्त प्रान्त के श्रमण-सङ्घो ने, सकौशल, यथायोग्य सहायता प्रदान कर आचार्य कालक के समस्त अभिप्रेत उपकरणो की पूर्ति की । लाट और पाञ्चाल के नर-पतियो ने भी मित्र-नीति अङ्गीकार करके गुप्त-रीति से शकराज का साहचर्य्य स्वीकार किया । आचार्य कालक को सन्तोष हुआ—सन्तोष हुआ कि उनकी कार्य-पद्धति से किसी का विरोध नही है । पर फिर भी, मातृभूमि के सुरम्य तथा शान्त प्रकृति-क्षेत्र मे अपने एक-एक चरण की प्रतिक्रिया वे देखते, तो उनका हृदय व्यथा से क्षुब्ध हो जाता । जब वे विदेशीय भूमि पर थे, वहाँ की प्रकृति और उसके नाना रूपो की अन्यता और तटस्थता ऐसी ही भावना की ओर निर्देश कर जाती थी । पेड-पौधे कांपते हुए, पशु-पक्षी त्रस्त होते हुए कही दूर भग जाना चाहते, विरव से कहते कि 'हमारे घरो को उजाडने वाला यह दल-बादल कहाँ से उमड़ चला आ रहा है !'

और जिस दल-बादल को आचार्य इधर लाये थे, उसकी मनोवृत्ति पर भी उन्हे सन्देह हो चला था । धीरे-धीरे, इस अभियान के ससर्ग में उन्हे अपना सदुपदेश असफल होता जान पड़ा । वे जान गये कि शकराज और अन्य साहि 'धर्म' और 'अर्थ' में से किसको विशेष महत्व देते हैं ! शकराज जो वर्षा-

ऋतु के अन्तिम दिनो मे भी युद्ध के लिये उज्जयिनी की ओर अभियान करने मे हिचक रहा था, प्रचुर धन पाकर कुल्ल और उलुम्भु की सहायता से वर्षा के समाप्त होते न होते अवन्ति की सीमा पर पहुँच गया। उस विदेशी बल का आग्रह लक्ष्मी पर ही आश्रित था, आचार्य कालक की आँखे खुल गई। वे चिन्तित थे। फिर भी, सरस्वती का उद्धार और अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिये जो मार्ग वे अपना चुके थे उससे विमुख होना असम्भव था।

और उज्जयिनी-पति महाराज गर्दभिल्ल! वे स्वप्न मे भी ख्याल नही कर सकते थे कि 'मृतक' कालक का प्रण ऐसा विराट् तथा उग्र रूप धारण कर एकाएक आ उपस्थित होगा। और जब वह साकार रूप से उज्जयिनी के महान दुर्ग को घेर कर छा गया, तो उज्जयिनी-पति अवाक् रह गये।

महाराज दप्पण ने जब विदर्भ राष्ट्र की सीमा के विस्तार हेतु, चौदह वर्ष पूर्व, उज्जयिनी पर आक्रमण किया था, उस समय उनकी शक्ति अपार थी और साथ ही, योगीश्वर की अनुकम्पा उनकी प्रत्येक महत्वाकांक्षा की सफलता-रूप थी। महाराज का विश्वास था कि उनका बुद्धि-वैभव, उनकी राज-नीति पटुता, उनकी दूरदर्शिता और उनकी योग-सिद्धियो के उपभोग का अवसर मिला है। और इसी विश्वास पर वे सत् और असत् सब कुछ करते रहे। पर, माया की आसक्ति, धीरे धीरे, उनकी एक ओर, शक्ति का ह्रास करती गई; और दूसरी ओर, योगीश्वर के प्रति प्रगाढ श्रद्धा को मन्द करती गई। और अन्त मे, एक ही आसक्ति-केन्द्र की स्पर्द्धा मे (जोकि गुप्त-

शत्रु-पक्ष के चरो द्वारा उत्तेजित की गई थी।) गर्दभिल्ल दप्पण का राज-सत्ताधिकार अपनी महत्वाकांक्षा की सफलता के ईश्वर-प्रदत्त आधार पर ही कठोराघात कर बैठा। इन्द्रिय-लोलुप राजा ने योगीश्वर के उज्जयिनी-त्याग की सूचना में अपनी राजाज्ञा-पालन की अखण्डता अनुभव की। उस दिन कितना हर्ष मनाया गया था ! पर थोड़े काल उपरांत ही उज्जयिनी के दुर्ग के वाहर जब उन्होने असंख्य कण्ठो से निकली हुई गगनवेधी उल्लासमय ध्वनि सुनी थी, उनके मानस नेत्रो के सम्मुख योगीश्वर की वह गम्भीर मूर्ति क्षणभर के लिए उतर गई थी, और उनके हृदय में एक अभिलाषा उठी थी—'वे होते तो "।' यही उनके जीवन की पहली निराशा थी।

और एक संकटत्रस्त रात्रि की घोर निस्तब्धता मे राजा दप्पण ने सुना कि नगर प्राचीर के पश्चिमवर्ती तोरण-द्वार की रक्षणी-सेना ने शत्रु के लिए कपाट खोल दिये हैं, और शत्रु के स्वागतार्थ उपस्थित नागरिको की हर्ष-जय-जयकार ने दिग्-दिगन्त को प्रतिध्वनित कर दिया है। राजा को याद था कि उनके प्रथम स्वागत के लिये भी तो उन्ही वीर-योद्धा-नागरिको की तलवारें हर्ष और उमङ्ग से चमक उठी थीं, और आज· आज वही सौभाग्य किसी और को मिल रहा है ! यही उनकी दूसरी निराशा थी।

इस प्रकार निराशा पर निराशा के वादल घिरते गये तो उज्जयिनी-पति गर्दभिल्ल दप्पण क्रोध से अधिक उग्र, अधिक दृढ़ और अधिक हिंसक हो उठे !

वे परिणाम को जानते थे, इसी कारण वीर की भाँति जीकर मर जाना ही अब उनकी चाहना थी। राजभवन का दुर्गम दुर्ग अभी तक अखण्ड था।

युद्ध की ऐसी ही विकट परिस्थिति वाले एक दिन, उज्ज-यिनी के उपाश्रय मे आचार्य कालक, शकराज मयूस, लाटपति, पाञ्चालपति दुर्ग को खण्डित करने के विषय पर मन्त्रणा कर रहे थे।

शकराज हतोत्साह कह चुके थे—"वह गजब ढाह रही है, आचारज ! हमारे लडाका तिनके की तरह मर रहे हैं।"

और लाट-पाञ्चालपतियो ने उसका समर्थन किया था।

आचार्य कालक विचारमग्न थे। आखिर, उस स्थान की व्याकुल व पीडक निस्तब्धता का समाहार करते हुए वे बोले—"मैं जानता हूँ कि वह गर्दभी-विद्या का ज्ञाता है और अष्टम-भक्तोपवासी होकर उसको प्रत्यक्ष कर रहा है। उसका परि-णाम अवश्य ही भयङ्कर होता है।"

लाट-स्वामी बलमित्र ने कहा—"हाँ, क्षमाश्रमण, उसका प्रभाव सैनिको पर विनाशक हो रहा है, वे भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करते हुए अचेत हो पृथ्वी पर गिर पडते हैं।"

"एक कदम बढाना मुश्किल हो रहा है।"

"शकराज, इसके प्रतिकार की एक ही युक्ति है। हमे एकसौ-आठ शब्दबेधी योद्धाओ को एक विशेष शिक्षा देनी होगी। वह गर्दभी-रूप-धारिणी कहाँ रक्खी गई है, लाटराजन् !"

"अट्टालक में।"

"वैसे ही ऊँचे स्थल पर गर्दभी-सी आकृतिवाली वस्तु को रख कर उसमें दूर से एक साथ वाण चलाने की शिक्षा प्रदान की जाय उन योद्धाओ को, और और यह काम लाट-राजन् तुम्हारे ऊपर छोडता हूँ। और जब राजा दप्पण योग-विद्या से गर्दभी को प्रत्यक्ष करने लगे, उसी समय वे पटु योद्धा उसका मुख वाणों से भर दें। वे वाण अभिमन्त्रित कर शुद्ध किये हुए होंगे। इसी रीति की सफलता में गर्दभिल्ल का नाश है, कर सकोगे लाटराजन् ?"

"वैसा ही होगा आचार्य !" लाटराज ने प्रसन्नता और दृढता से कहा।

युगमात्य-नीतिपटु व उद्भट वीर महाराज दप्पण का भाग्य आचार्य कालक के इस नीति-मन्त्र में मानो निवद्ध हो गया था।

केन्द्र-बिन्दु की ओर एकाग्र थे। शक-सम्राट् के विस्मय-विमूढ नेत्र भी उसी ओर खिच गये थे।

और सबने देखा। शक-सम्राट् ने भी देखा कि श्वेत वस्त्र से वेष्टित एक मूर्ति धीरे-धीरे गुप्त-मार्ग की ओर से चली आ रही है और आकर आचार्य कालक के सम्मुख अपने पुण्डरीक मुख को नत किये खडी हो गई है। उसके उत्तरासग की अत्यन्त क्षीणता में उसका अस्थिपिंजर दृष्टिगोचर हो रहा था, मूर्ति खडी थी, मानो अचेतन हो, भावविहीन हो।

आचार्य कालक ने भी उस मूर्ति की ओर एक बार देखा, और फिर शक-सम्राट् को लक्ष्य कर वे बोले—"मेरे प्रति जो तुम्हारी श्रद्धा थी उसे तुमने इस ककाल पर खो दी है, शकराज! देखो, यह मेरी बहिन सरस्वती है। इसका रूप देखा तुमने? इसकी मुक्ति के लिये जो हिंसा की गई थी, उसके प्रायश्चित का यह रूप है। तुम अपनी पाप-वासना की पूर्ति के लिए और अधिक क्या करना चाहते हो?"

शक-सम्राट् के नेत्र शून्य थे, जिह्वा जड थी।

आचार्य फिर बोले—"इस सुखद अवसर पर मैं कुछ नही कहना चाहता, पर भविष्य मुझे असंदिग्ध प्रतीत होता है, मयूस? तुम्हारा पराभव निश्चित है।" कहकर आचार्य कालक ने अपनी भगिनी की ओर देखा, और कहा —"साध्वी बोलोगी—

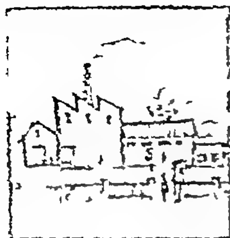
अरिहंते सरण पवज्जामि। सिद्धे सरण पवज्जामि।
साहू सरण पवज्जामि। केवलिपन्नत धम्म सरण पवज्जामि॥"

आचार्य कालक के गम्भीर नाद में एक क्षीण कण्ठ भी ध्वनित हो उठा था और उसके अवसान में वह भी लुप्त हो गया था। इसके पश्चात् आचार्य कालक वहाँ से चल पड़े। उनके पीछे-पीछे वही अस्थिपिंजर मूर्ति चली जा रही थी।

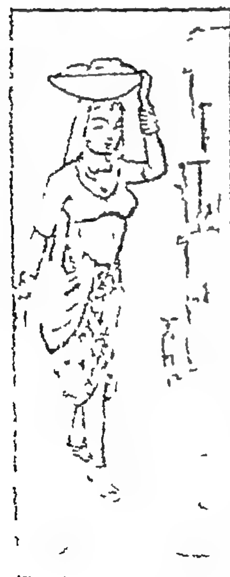
सभा-मण्डप मंत्र-त्रस्त था।



मज़दूरिन



: एक :



मेरे जीवन की यह ढलती वेला है। अपने कमरे से जहाँ मैं इन थोड़े पर भारी पलों को बठ व्यतीत करता हूँ, हर रोज़ देखता हूँ कि अस्ताचल में डूबता हुआ सूरज अपनी आदि-दिशा के ठीक सामने आ जाता है और प्राची पर छितरे छाये बादल फिर उन रगों में चमक उठते हैं, उनको ही टुक भर देखने के लिए जैसे सूरज तनिक रुक जाता है। मेरे जीवन का बीता पक्ष भी कैसे तब अस्पष्ट रह सकता है, मैं भी तो अब अपनी आदि-दिशा के ठीक सम्मुख आ गया हूँ। अतः उसके नाना चित्र मेरे सामने अङ्कित हो जाते हैं और मैं उन्हें निहार २ कर अभिभूत हो जाता हूँ।

अव जीवन के दिन गिनती के हैं, अधिक नहीं; फिर भी, शारीरिक शिथिलता ने उनको भी लम्वा वना दिया है।

के लिये मै आपको कॉमरेड दादा कहूँगी। मुझे ताज्जुब है कि हम गरीब मजदूरो की भलाई के लिये सब कुछ करने वाले आप कॉमरेड कहलवा कर गैर क्यो बनना चाहते हैं ?"

मेरे विचार से ऐसी बात सकुचित मनोवृत्ति या फिर अज्ञान का ही सूचक थी, पर मुझे ऐसा भान हुआ कि कीरत की माँ के कथन मे केवल निकट आने के आग्रह का सकेत है। उस शब्द के असली अर्थ को खोलने के लिए मेरे मुख से निकल पड़ा :

"कॉमरेड का मतलब भी साथी है। रूस के मजदूर इस लब्ज का इस्तेमाल करते हैं और हमने भी इसे अपना लिया है कि आखिर सब देशो के मजदूर एक ही तो हैं।"

वह मुस्कराई और बोली :

"सच ही क्या एक हैं ?····होगा। मुझे इतनी जानकारी कहाँ ? वैसे तो आदमी आदमी मे क्या भेद है ? पर उनमें भेद नही है, यह तो कहा नही जा सकता। मैंने सुना है कि हमारी यह गैर-सरकार हमे आजादी नही देना चाहती, वे जानते हैं कि हिन्दुस्तान को आजादी मिली और उनके मुल्क का सारा कारोबार ठप्प हुआ। वहाँ के मजदूरो की जिन्दगी इसी पर निर्भर करती है। उनके सामने अपना जीवन है, वे क्योकर फिर हमारी सोचने लगे ? · और रूस के मजदूर ! वे अच्छे हो, पर इतना जरूर है कॉमरेड दादा, कि अग्रेज-मजदूरो की तरह उनका भी सम्बन्ध हमारे साथ वैसा ही होता, तो · तो क्या उनकी हमदर्दी हमारे साथ होती ?"

वह रुकी और उसकी आँखें मेरे पर ऐसी टिकी जैसे वे कुछ जानने की जिज्ञासा प्रकट कर रही हो। मैंने कहा :

"उनका नया ही निजाम है। यह साम्राज्य-लोलुपता संसार में जो क्रूरता, नृशंसता तथा अत्याचार का ताण्डव-नृत्य कर रही है, उसे नष्ट-भ्रष्ट कर देने का बीड़ा उस देश ने उठाया है। वह मजदूरों का राज कायम करना चाहता है, इन साम्राज्यवादियो तथा पूजीपतियो की लाशो के ऊपर! उस देश का मजदूर हमारी क्यो न सोचेगा, कीरत की माँ ?"

"खैर, आपने कुछ और ही बात कह दी है, मैं मान लेती हूँ कि उन्होंने एक नया रास्ता बताया है, उससे ज्यादा से ज्यादा फायदा हमे उठाना चाहिए। पर इसका मतलब यह तो नही होता कि हम रूसी-रग में ही रग जाँय। हम हिन्दुस्तानी है, और वही हमे होना होगा। मैं देखती हूँ कि जैसे आप, हमारे नेता कॉमरेड कहकर आपस मे बोलते-चालते हैं, वैसे ही खयालाता भी आप रखते हैं। इन खयालातो मे एक ऐसी उथल-पुथल की तरफ इशारा है जो बरबादी लिए हुए है। मैं अपने इस बालक का भला चाहती हूँ। मिल मे काम करते-करते ही इसका हाथ बेकार हो गया है। मिल-मालिक का फर्ज है कि वह अपना समझकर, इसकी और इसकी दुखिया माँ की मदद करे। वह नही करता, यह दु:ख की बात है। इससे माँ की आत्मा व्याकुल हो सकती है। उसकी पीड़ा हमदर्दी चाहती है और ऐसे बुरे समय मे आप हमारे होकर जो धीरज दे रहे हैं, हर तरह की जो मदद कर

रहे हैं, इस उपकार की कीमत मेरे सिवा दूसरा कौन आँक सकता है ? सच कहती हूँ, कॉमरेड दादा, मै इसे भूल नही सकूँगी ।"

उसका हृदय भर आया था । उसके दृष्टिपात मे असीम कृतज्ञता छलक पडी थी, पर क्षण भर बाद ही उसकी आँखे झुक गई, और नत मुख ही वह कहने लगी :

"मिल-मालिक भी तो आखिर अपना ही है । वह आज किसी लोभ मे हमे पराया समझ रहा है, निर्दय होकर हमे धुतकार रहा है, तो भी मै उसको सर्वनाश का शाप नही दे सकती । नही, मै उसका बुरा नही चाह सकती । उसका दिल बदले, उसका दिल पिघले, मेरी यही कामना होगी ।"

उसका मुख नत था । यह जानना मेरे लिए कठिन था कि यह उदात्त क्षमामय कामना कितनी कटु जीवन-घटनाओ के घेरे को भेदन करती हुई निकली है । क्या उसकी गौमुखी धर्म भावना तो नही ? क्या वह केवल प्रचलित तन्त्र के सत्तात्मक अकुश से भयत्रस्त तथा उसके आडम्बरपूर्ण वैभव से विस्मय-स्तब्ध प्राणी का कातर उद्गार तो नही है ? पर उसकी वाणी मे शुद्ध स्वच्छन्दता तथा अडिग दृढता ध्वनित हो रही थी, वह निश्चय ही मेरे सशय को झकझोर रही थी । कीरत की माँ ने जो विचार प्रकट किए, उसके खिलाफ मेरे मान्य सिद्धान्त के आधार पर एक आवाज़ थी । पर मै चुप ही रहा, मेरी निर्निमेष दृष्टि उसके नत मुख की ओर लगी हुई थी ।

नीचा सिर किये ही वह फिर स्थिर स्वर मे बोली :

"आप नही समझ सकते, कॉमरेड दादा, आप नही समझ सकते। मेरे मासूम लड़के पर जुल्म हुआ है, फिर भी माँ होकर मैं ऐसा क्यो नहीं चाहती जैसा कि आपने कहा है। आपकी मत्रणा में एक इशारा है, उसे समझा जा सकता है। वह असर भी करता है। हमारी पशुता जगती है। उसे जगाना सीधा काम है और उसके बहाव मे वह जाना भी सीधा काम है। पर' पर क्या पशुता को जगाकर ही आप... खैर, जाने दो। मुझे वह दिन याद है जब 'वे' और मैं गाँव से भगकर आये थे। हमारे पास जो कुछ था, वह रास्ते में खत्म हो गया था। भिखारी की तरह हमे, 'नगर मे घुसना पड़ा था। न आज के लिए सरजाम था और न कल के लिए कोई आशा—ऐसे समय मे, 'नगर-मिल-मालिक ने हमें जगह दी। महिने की तंगाई के बाद फिर हमारे दिन भले बीतने लगे। भले ही कहूँगी क्योकि जिसके पास एक वक्त कुछ नहीं होता, उसके पास दूसरे वक्त कुछ हो जाना ही भला है। वे कहते थे कि मिल-मालिक की इस महरबानी को हमे कभी न भूलना चाहिए। वे आज नही हैं, पर उन दिनों की अपनी बेबसी और उस मिल-मालिक की उदारता को जब तक जीती हूँ, कैसे भूल सकती हूँ। मानती हूँ कि हमे नोकरी देने में उसने अपना गहरा मतलब देखा होगा, फिर भी उसे पाकर हमने जो लाभ उठाया था, उसकी कीमत मेरी निगाह मे कम नहीं हो सकती। बाद की वारदातों से मैं जान गई कि वह मिल-

मालिक कितने पानी मे है। वह आदमी पर उपकार का भार डालकर फिर अधिक-से-अधिक लेने का हक जमाने लगता है। ऐसी ही बात सब जगह देखी जाती है। उसका फल मुझे भोगना पडा। मिल-मालिक के एहसान से वे सदा अपनी ताकत से परे काम करते थे। एक दिन सुबह वे उठकर मिल को रवाना हुए, जैसा कि वे हमेशा करते थे। बरखा हो रही थी, चारो तरफ घुटनो तक पानी भरा हुआ था। पानी के जोर को देखकर काफी लोग अपने-अपने घर से निकलकर भी लौट रहे थे। मैंने उन्हे भी बुलाना चाहा, पर वे बोले, 'यो सब रह जावेंगे, तो मिल कैसे चलेगी। हमे तो ऐसा नही करना चाहिए।' वे चले गये। और और वे फिर कभी वापिस नही आये ''

एक क्षण के लिए उसका गला अवरुद्ध हो गया। थोडी देर बाद, उसने मेरी ओर देखा, उन आँखो मे अधियारी छाई हुई थी। और जब, एकाएक, उसने मुझसे पूछा कि क्या मैंने उस जलजले की बात सुनी थी, उसकी आंखो से नीर बह चला।

मैंने कहा : "सुनी थी।"

"बस, उसी दिन यह औरत बे-बाप हुआ था।"

इस कथन मे भी जैसी स्पष्टता थी, वैसा ही कम्पन भी था—ऐसी अमेल अभिव्यक्ति का स्वरूप इतना हृदय-स्पर्शी था कि मै द्रवित हो उठा। मेरी आंखें हृदय की सारी करुणा लिए उसकी ओर लगी थी और उसका सिर अब ऐसा झुक

गया था जैसे वह उसके उर के किसी कोने मे छिप जाना चाहता हो !

× × × ×

इसके पश्चात्, जो उसने कहा उससे मैं विस्मय-विमुग्ध तो हुआ ही, पर साथ ही उसके कथन की ऊपरी सरलता के भीतर अनुभूत सत्य ने मेरे पठन-पाठन द्वारा प्राप्त ज्ञान को बेंध दिया। आज कोरत की माँ ने जिस भूमि के विस्तृत आँगन को मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया, मुझे ऐसा कटु भान हुआ कि उस पर विचरण करता हुआ भी मैंने वस्तुतः अभी तक वहाँ पैर नही रखा है, उसे देखता हुआ भी मैंने उसे खुले नेत्रो से देखा नहीं है। अनायास ही मेरे अतल में उठी जिज्ञासा कीरत की माँ की सप्रभ आँखो मे पैठकर उस भूमि के रहस्य का उन्मेष करने के लिए प्रवल हो उठी।

मेरे सामने बैठी हुई पीड़ित नारी—फटे चिथड़ों से लिपटी नारी कितनी साधारण है, जिसे नाममात्र भी शिक्षा नही मिली है, जिसे आधुनिक युग की गति-विधि का, सभ्यता का तनिक भास नहीं है; फिर भी इसी नारी ने जीवन की उन गलियों को, उसके उन क्षणो को पार किया है जिनकी असह्य बाधाएं व वेदनाएं उमड़-उमड़ कर एक विशाल प्रभञ्जन का रूप धारण कर लेती हैं, सारे वातावरण को विलोड़ित कर देती हैं !

उसने पुनः जब बोलने का उपक्रम किया, तो उसकी आवाज़ का कम्प दूर हो गया था, वह मेरे द्वारा उठाई हुई नर-नारी-समस्या पर कहने लगी थी :

मेरी मीठी उक्ति मे कटु व्यग्य भरा हुआ था। कीरत की माँ की उज्ज्वल आंखे चमकी, वह हँस पडी। कुछ विचार कर वह बोली :

"उदारता तो है ही। बन्धन-सूत्र के दो छोर होते हैं, दादा, उन दोनो छोर से जब परस्पर समान रस की धार एक दूसरे की ओर प्रवाहित रहती है, तब तो समाज का कोई अग नीरस नही रह पाता, न उसमे मरघट की भैरवता व्याप सकती है। पर आजकल की उदारता कोरी है, दिखावटी है। उसमें एक ओर अधिकार का भार बढ गया है। बन्धन था और है और आगे भी रहेगा, पर उसे हमे रसमय तथा मङ्गलमय बनाना है, उसे मानवता की ज़मीन पर खडा करना है। 'दुनिया के मजदूरो एक हो!' मे भी नये बन्धन का नारा है। तो बन्धन को तोडने की बाते कहकर गरीब जनता के अज्ञान की मखौल उड़ाना ठीक नही है, कॉमरेड दादा! नारी की आज़ादी की बात भी इसी तरह देखी जा सकती है। नारी अब दीवारो मे नही रह सकेगी, बाहर निकलकर वह खुले फैले ससार में खड़ी होना चाहती है, उसे यह मौका—नही, नही उसका हक उसे दिया जाना ही चाहिए। बिल्कुल ठीक बात है। मैं यही चाहती हूँ कि मैं समाज मे अपना अधिकार, अपनी वाजिब जगह पा लूं। पर यह कहूँ तो गलत नही है दादा, कि पहले भी, और अब तो · खैर, यह मेरा जूडा जूडा रहा हो। एक तरह से मैं फक्कड ही हूं!"

वह खिलखिलाकर हंस पड़ी, जैसे इस हँसी में ही वह अपने स्वतन्त्र, निर्बन्ध अस्तित्व को पुष्ट कर देना चाह रही हो।

"अगर ऐसा है कीरत की मां, तो क्या मैं तुम्हे बधाई दूं ?"

"बधाई ? बधाई किस बात की, कॉमरेड दा ! फक्कड़पन की। पर मैंने इस फक्कड़पन से कोई लाभ तो उठाया नही है। देखते नही हैं मेरी हालत, वैसी ही मरघट की जोगिन हूं। कितना छोटा मेरा पसारा है ! साथी छूट गया तो अकेली ही दुखी जीवन के भार को ढोह रही हूं। यह कीरत ही मुझे छोड़कर चला आया था, चाहती तो इस आंगन में कदम ही न रखती। नया घर बसा लेती, मुझे कौन रोकने वाला था ? पर मैं समाज की ऐसी छूट—उदारता पाकर भी कुछ कर न सकी। मेरा घेरा तो अपने आप जैसे बन गया है लछमण की रेख लिए। बंधी बंधी इसी लड़के के पीछे घूमती फिरती हूं। कोई आशा मुझे इसके पीछे नही चलाती, पर जैसे भीतर एक अजान चीज़ झकझोरती रहती है और मेरे हाथ इसे गोद में लेने के लिये बरबस फैल जाते हैं। आप तो कहेंगे यह सब अन्ध-भावुकता है, ऐसा बन्धन है जिसमें मैं अपने जीवन को तिल तिल गला कर बहा देना चाहती हूं। पर औरत में जो 'मां' है, उसकी इसके सिवा क्या गति है ?"

"समाज का एक ऐसा नया भी रूप हमारे सामने आया है, कीरत की मां, जहां नारी की, मां की गति भी है और

उसके नारित्व के अन्य अङ्गो का पोषण भी है। नारियाँ जहाँ मुक्त होकर जीवन यापन करती है, अपनी निहित शक्ति के विकास व प्रकाश मे समान अवसर प्राप्त करती हैं। वे भी राष्ट्र व समाज के उत्थान मे योग देकर अपने कर्त्तव्य का पालन करती हैं, और उनका राष्ट्र व समाज परलोक के रहस्यमय भ्रामक स्वप्न न दिखाकर उनके लिए इहलोक को पूर्ण बनाने के लिए सारी सुख-सामग्रियाँ एकत्रित कर देता है। उस देश की माता को अपने लाडले कीरत के लिए पीछे घूमते रहकर अपने जीवन को तिल तिल गला देना नहीं पडता। बालक राष्ट्र का भावी नागरिक है, उसके पालन, शिक्षण, स्वास्थ्य आदि का सारा भार राष्ट्र अपने ऊपर छे लेता है।"

"ऐसा है ! कितना अच्छा है !" कीरत की माँ रुकी, और फिर सोचकर कहने लगी, "बात यही तो आई कि व्यवस्था नई हो या पुरानी, राष्ट्र तथा समाज एक तरफ और साधारण नागरिक दूसरी तरफ—दोनो को मिलकर एक योजना में काम करना होगा। मैं कहती हूँ, कॉमरेड दा, आपने जिस देश की बात कही है, वहाँ भी आखिर एक नया बँधन ही पैदा किया गया है। बालक का भार राष्ट्र को देकर वहाँ माता उसके पालन-पोषण के भार से मुक्त हो गई है, पर उसे दूसरे कर्त्तव्य अपने हाथ मे लेने पडे हैं—तो मैं पूछती हूँ अपने बालक के प्रति माँ का कर्त्तव्य आखिर औरत के लिए छोडने लायक क्यो बन गया है ? उसके पालन में भी तो

नारी अपने समाज व राष्ट्र के एक महत् कार्य को पूरा कर सकती है, साथ ही अपनी स्वाभाविक भूख को—ममता व वात्सल्य आदि भाव न कहूँ तो—तृप्त कर सकती है। क्या उस देश की नारी के हृदय में अपनी गोद के शृगार के लिए कोई तरल खिचाव नही होता जो हमारी सारी नई मान्यताओ के बाँध को तोड़ देना चाहता हो ? कॉमरेड दा, मैं ऐसा नही सोच सकती कि शिशु की कोमल पुकार उसके हृदय के तार को बजा न जाती हो, और उस संगीत से भी अधिक मृदुकम्प से वह आलोड़ित न हो जाती हो। बन्धन कोई हेय चीज़ नही है, इसके विपरीत राष्ट्र तथा समाज के सङ्गठन में वह एक मगलदाता साधन बनता है। पर विकार पाया हुआ यह साधन अमङ्गल की भी झड़ी लगा देता है। हमारे देश व समाज की दुरावस्था का यही तो कारण है। कॉमरेड दा, ऐसा भी तो हो सकता है कि जब राष्ट्र ने नारी के 'माँ' का भार अपने ऊपर ले लिया है, तो वह अपने उन नये कर्त्तव्यो के प्रति उदासीन हो जावे या अपनी दुर्बलता के कारण उनके पालन मे असफल रहे। वहाँ ऐसा नही हुआ है, बड़ी सौभाग्य की बात है। पर ऐसा हो तो उस नये समाज का ढाँचा भी तो विकार से भरकर उतना ही या इससे भी अधिक भयङ्कर हो सकता है। मैं तो शहर ही इनी-गिनी बार गई हूँ और जिस देश की बात कही गई है, वह तो इस जन्म मे देख भी न पाऊँगी; पर नई रोशनी की औरतो को मैंने देखा है, तो मुझे दुःख ही हुआ। मुझे माफ करेंगे आप, कॉमरेड दा,.

वे औरतें पढ़ी-लिखी हैं, ज्ञानवान हैं, शान-शौकत रखती हैं, कही कुछ ऐसा प्रतीत नही होता कि वे पूर्ण न हो; पर उनकी रुचि कैसी है, जानते हो दादा ? वोलती बडी बड़ी बाते, अपनी सजधज से मात करती हैं परियो को, पर हर कदम पर वे चाहती है कि कोई उनकी राह की धूलि साफ कर दे, कोई उनकी कही फरियाद को पूरा करता हुआ उनके चारो तरफ मँडराता रहे, कोई उनके रूप, उनकी कार्य-दक्षता की बढ बढ कर तारीफ करता रहे। आजादी के निजाम की ये कठपुतलियाँ । मेरी बाते आप को अटपटी लगेंगी, फिर भी जब आप अपना सब कुछ छोडकर दीन-हीन आदमियो की भलाई के लिए काम करने का बीडा उठा चुके हैं, तो चाहती हूँ कि आप इन अटपटी बातो पर कुछ सोचे। किसी नये व लुभावने मत को सब कुछ मान कर मानव की इस दु खी जिन्दगी को उसके मुताबिक एकदम पलटने की कोशिश न करें, उसका फल इससे भी बुरा हो सकता है।"

वह क्षण भर के लिए रुकी, और मुझे तनिक भी अवसर दिये विना वह फिर कहने लगी।

"हमारे समाज में आदमी ने तन और मन दोनो की काफी आजादी ले रक्खी है। आज नारियाँ भी जब अपनी चहार-दिवारी तोडकर वाहर निकल रही हैं, वे शरीर से ही नही मन से भी मुक्त होना चाहती हे। ऐसी आजादी आखिर क्या लावेगी ? सोचती हूँ तो शका से काँप उठती हूँ। मानव का मन तो फूल की सुवास-सा फैलना शुरू करता है और

फिर ज्वालामुखी के लावा-सा बहने लगता है। उसकी गति निर्बन्ध हो जाती है। आदमी ने अपने मन की प्यास को पूरा करने में जो निरंकुशता अपनाई है, उससे न वह अपना और न अपने समाज का हित कर सका है। अब नारी भी अपने मन को यों खुला रखकर अपनी अतृप्त प्यास को बुझाना चाहती है, तो आखिर होगा क्या ? समाज में आज से अधिक विषमता ही बढ़ेगी। इन दीवारों को तोड़कर, बाहर होकर नारी अपने मन की गति पर संयम रख सके, चाहे वह भोगिन हो या जोगिन, तभी हरएक कदम पर उसे अपने जीवन को स्वयं बनाने की तथा अपने निश्चित कर्त्तव्य-पालन की स्वानुभूति, सन्तोष तथा बल दे सकेगी। हवा की लहरों में इधर उधर भटकने वाले तिनके जैसी हालत आज की आज़ाद नारियों की मैंने देखी है—वे उन्माद लेकर बाहर निकलती हैं, वे उस उन्माद में ही भटकती फिरती हैं। क्या नारी की आज़ादी का अर्थ यही है ? नहीं, कॉमरेड दा, ऐसा तो नहीं है न। मेरी कामना है दादा, आप जुग-जुग जीवें, सफलता पावें। ऐसे " अपने लड़के की ओर देखकर उसने अन्त में कहा, "ऐसे अनेक लड़के-वाले आपकी जय-जयकार कर उठेंगे !"

कीरत की माँ का कथन ऐसा तीव्र तथा प्रवहमान था कि मैं मौन रहकर सुनता ही रह गया। आखिर, उमड़ते हृदय से मेरे लिए जो मंगलकामना प्रकट की गई थी, उस वाणी की स्पष्ट निष्ठा ने मुझे विमुग्ध कर लिया। बाद के जीवन में ऐसे अवसर भी आये, जब मैंने जगह-जगह ऐसी

जय-जयकार सुनी, पर दिशा-दिशान्तर को गुंजायमान करने वाला जय-नाद मेरे लिए इतना महत्वपूर्ण नही था जितनी कि उस दिन की यह सात्विक कामना !

मै कुछ कहूँ, वैसे ही मैने देखा कि कीरत करवट बदल कर आँखे खोल रहा है । वह शिथिल वाणी मे बोला :

"माँ, पानी ।"

कीरत की माँ चुपचाप पानी लेने उठी, और गिलास में पानी लाती हुई अपने लडके से बोली .

"कॉमरेड आये हैं रे कीरत, देख ।"

कीरत ने मेरी ओर देखा, वह प्रयत्न कर बैठा । मुझे 'नमस्ते' कर लज्जित-सा बोला।

"नीद आ गई थी मुझे ।"

"अच्छा ही तो हुआ । घाव कैसा है !"

"ठीक है ।"

कुछ देर बाद मै उठ बैठा । कीरत की माँ द्वार तक मेरे पीछे पीछे आई और अपने दोनो हाथ द्वार की चौखट पर रखे वह मुस्कराती बोली :

"आपको भी हमने कैसा बांध लिया है ! इतनी रात बीत गई है । बुरा तो नही लगता, कॉमरेड दादा !"

उस दिन सूरज सुबह से ही बादलो की घनता व उमड़-घुमड़ में छिपा रहा, तब से रह-रहकर वर्षा की झड़ी लगी हुई थी। हम सब साथी मजदूर-यूनियन-ऑफिस में आये थे कि फिर सध्या तक वहाँ से जाना सम्भव न हो सका। प्रस्तुत खास-खास मसविदो पर विचार-विमर्श तथा निर्णय कर चुकने के बाद बातचीत का रुख गम्भीरता खो चुका था। मनोविनोद की ऐसी बातो में अधिकांशतः मैं भी खासा भाग लेता था, पर आज मेरे पर ही साभिप्राय फब्तियाँ कसी गई थीं। बहते हुए गंदले तथा सड़े पानी से भरी सड़क पर आगे बढ़ता हुआ मैं इन बातो पर ही सोच रहा था। .....

मैं स्वीकार करता हूँ कि ऐसी लपेटकर बातें बनाने का मुझे नाज था, पर आज से पहिले मैंने कभी किसी साथी के मुख पर खिली-हँसी के भीतर उस कसक की कल्पना तक नहीं की थी जो सर्पिणी के समान कुण्डली मार कर मेरे दिल को दंश कर रही थी। वैसे मैंने भी तब अपने साथियो के अट्टहास में अपना योग दिया था। क्या ऐसा योग मेरे लिए उचित था? भीतर यह प्रश्न बार बार उठता था और कोई समाधान न पाकर उमड़े विविध भावो के स्तूप पर विचित्र रूप धारण कर वह एकाएक उसी मे डूब अन्तर्तम में विलीन हो जाता था, उस अन्धकूप मे से केवल धिक्कार की प्रतिध्वनि उठकर मेरे हृदय को उद्वेगमय बना जाती थी। आखिर जिन

सिद्धान्तो की मान्यता को लेकर हम नये समाज का निर्माण करने की क्रियात्मक प्रेरणा लिए हुए थे, वे हमारे ही दिन-प्रति-दिन के व्यवहार मे झलक उठने चाहिए थे। साम्यवाद का समाज के हर पहलू के सम्बन्ध मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण है, वह मानव की मूल प्रवृत्तियो के आधार पर विकासोन्मुख है। जिन अमानवी असत्य विचारो को आज समाज धर्म मानकर चल रहा है, उसके सर्वग्राही मद मे वे अधिक नही चल सकते। नये समाज के नये तर्ज का पोषक हमारा जीवन होना चाहिए। पर क्या इस हल्केपन की मनोवृत्ति मे हमारे मनोबल का स्रोत चिरन्तन प्रवाहित रह सकता है ? क्या इस हल्केपन मे हम अपने मान्य सिद्धान्तो को ढकेल नही देते है दूर और फिर अपनी अलग सत्ता मे उसका तिरस्कार—अपमान—यहाँ तक कि उसे पैर से कुचल देने का प्रयास नही कर बैठते है ? मेरा तथा मेरे साथियो का आचरण वस्तुत ऐसा ही रहता आया है।

मुझे एक और घटना याद है। उस दिन भी हम सब साथी ऑफिस मे बैठे हुए थे कि सडक पर से एक आवाज आई मीठे पके अमरूद !'। एक साथी जो खिडकी के पास ही बैठा था उस तरफ देखकर बोला 'माल तो ऐसा ही है, कॉमरेड्स !' कुछ और साथी उठे, खिडकी से देखा और तय हुआ कि सौदा किया जाय। नीचे पहुँचकर अमरूदवाली को बुलाया गया, वह मुस्कराती आई और अपने ओडे को उतारती हुई वह जमीन पर बैठ गई। एक साथी कहने लगा, 'तेरे

अमरूद कैसे हैं री ! यह कपड़ा तो हटा।' उस अमरूदवाली ने कपड़ा हटा दिया, एक अमरूद हाथ मे ले ऊपर निगाह कर वह मुस्कराती बोली, 'वडे मीठे हैं, बाबू !–देखो।' 'चखने पर पता लगे।' एकने अमरूदवाली के काँचली मे बंधे उन्नत उरोज की ओर दृष्टिपात करते हुए कहा। उस ढीट दृष्टि को लक्ष्यकर अमरूदवाली की आँखो मे लज्जा उतर पडी पर वह सौदे की नपीतुली भाषा में बोली, 'खाई के अमरूद हैं, बाबू !' 'खाई के !'—हम लोगो के बीच इस शब्द पर काफी विनोद हुआ और एक साथी ने उसकी ओर देखकर श्लेष-भरी वाणी मे कहा, "जितनी खाई गहरी होती है, उतने ही अमरूद मीठे होते हैं री, क्यो न ?' अमरूदवाली क्षणभर चुप रहकर फिर उस साथी की ओर देखकर सहजभाव से बोली, 'कितने तोलूं।' 'ला, सेर भर दे दे !' पलड़े को झुकता-झुकता तोलकर अमरूद-वाली ने कहा, 'लीजिए।' कॉमरेड ने तराजू के पलडे को अपने कुडते के पल्ले की बनाई झोली मे उडेला कि अन्य साथियो ने छीना-झपटी शुरू कर दी। वह साथी कुछ बचाता ऊपर भाग गया—कहता गया, 'मै एक पैसा नही दूंगा, समझे।' बस इसी तरह का ताँता लग गया। एक साथी अमरूद तुलाता, लूट होती और वह बचता-बचाता ऊपर भाग जाता। इस तरह उसका ओडा करीब २ खाली हो गया था, हम सब ऊपर छीना-झपटी तथा खाने में लग गये। नीचे बेचारी अमरूदवाली काफी देर तक अवाक् बैठी रही इस आशा मे कि आखिर बाबू लोग पैसे तो दे ही देंगे, पर देर तक बाट जोहने पर भी बाबू लोगो

का इरादा इस तरफ नही देखा तो उसन पुकारा एक बार दो बार, तीन बार। एक साथी हँसी के कहकहे के बीच जोर से चिल्लाया, 'ऊपर आकर ले जा!' पर वह ऊपर नहीं आई और वहीं से अनुनय-विनय करने लगी। आखिर जो कुछ पसे उसे दिये गये, उस पर टीका-टिप्पणी करती हुई बाबुओ को कोसती हुई वह अमरूदवाली बेचारी चली गई सारी बातो मे भाग लेते हुए भी मुझे यह ठगना तो सबसे अधिक खटका। इस घटना का जिक्र मैंने बाद मे पार्टी-सदर से भी किया, पर उन्होने इतना ही कहा, 'ऐसा हुआ?—क्यो? खैर, इससे भी पार्टी का ही काम पूरा होता है। अमरूदवाली के दिल मे हम बाबुओ यानी बुर्जुआओ के प्रति घृणा पैदा हुई है।' मोर्चे का यह ढङ्ग मुझको विचित्र लगा, समझकर भी उसे मै हृदयगम्य नही कर सका। हमारी मान्यता का केन्द्र क्या? हम किस रूप मे सत्य हैं? कार्य करने मे अपनाई जाने वाली नीति पर असूल तोले जाने चाहिए या असूल ही नीति को निर्धारित करने चाहिए—मेरे सामने कोई बात स्पष्ट नही दिखाई दी। एक ओर हम लूटने की प्रवृति का नाश कर देना चाहते हैं और दूसरी ओर ध्येय-प्राप्ति के मध्य ही स्वय लुटेरा होकर गरीबो को छलने व लूटने मे तनिक सशकित नही होते हैं और यह कह कर सतोप धारण करते है कि हम लुटेरे बनकर लुटे जाने वालो के दिल मे लुटेरो के प्रति विद्रोह पैदा कर रहे हैं। • •

कीरत की माँ एक मजदूरिन थी बेवा, एकाकी और

पीड़ित जिसका इकलौता लडका इस छोटी-सी आयु में अपाहिज हुआ था। सीधे हाथ की उँगलियाँ कट जाने से उसका भविष्य ही काफ़ी अंशों में बरबाद हो गया था और इसी बरबादी मे माँ के हृदय मे पनप उठने वाली सारी मगल-मय आशाओं पर तुषार-पात हो गया था। उसके प्रति हमदर्द होना, उसके लिये समुचित मुआवज़ा दिलवाने का प्रयत्न करना और स्वार्थी व कुटिल नीति से काम करने वाले मिल-मालिक के प्रयत्नों का सचेत होकर दृढता से मुकाबला करना हमारी पार्टी का वैसे ही कार्यक्रम था। घायल कीरत का केस उसकी माँ के आने के पूर्व ही मैंने अपने हाथ मे ले लिया था। उसकी माँ और इस केस में मेरी अभिरुचि के बीच मूलतः कोई सम्बन्ध नही था। इसे पार्टी का प्रत्येक साथी जानता था। फिर भी मेरी अभिरुचि को लक्ष्यकर पार्टी-साथियों का यह हल्कापन मुझे व्यथा पहुँचा गया। एक साथी ने मुझसे कहा था, 'कीरत की माँ कितनी ही ढलती क्यो न दिखाई देती हो, पर उसकी आँखों मे पानी है जरूर। क्यो कॉमरेड वीरो ?' 'है तो।' मेरा सक्षिप्त उत्तर था। इस पर साथियो की कल्पना ने अनोखा ताना-बाना बुना और उनकी विनोदभरी निर्लज्ज हँसी का कर्मनाशा-स्रोत फूट पड़ा था। मुझे यह प्रकरण किसी भी दृष्टि से समुचित नही मालूम होता था। हो सकता है कि मेरे दिल मे अब भी ऐसी रूढ़िगत भावना दबी पडी हो जो अज्ञात रूप से आज उभर कर इस साधारण मन-बहलाव को इतना दंशक अनुभव करा गई हो।

ऐसा होना असम्भव नही है, तो भी मनोविनोद की तुष्टि मे हम एक नारी के अपरिचित व्यक्तित्व को दूपित व निंद्य मनोवृत्ति से अपमानित करने का दु साहस करे, क्या यह उचित है ? क्या यह हमारी अपनी मानसिक गुलामी को सूचित नही करता ?

साथियो की हँसी-दिल्लगी के बीच, अपने मन-मथन के एक क्षण मे, एकाएक मेरे मानस- दृग के सम्मुख बहुत दूर अपना भीतरी व्यक्ति उस कीरत की माँ के पास सटकर खडा हुआ दिखाई दिया और मुझे ऐसा अनुभव हुआ जैसे उसके तन-स्पर्श से कम्पन-लहरियाँ प्रसारित हो-होकर मेरे इस अस्थि-पजर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को झकृत कर रही हैं। क्षणभर में इस तन्द्रालोक से मैं सजग हो गया था। मैं विस्मय-विमुग्ध हुआ था कि आखिर इस दृश्य का, इस स्पन्दन का क्या अर्थ है ? कीरत की माँ से अब तक मैं कई बार मिल चुका हूँ, समय समय पर उससे खुलकर बातचीत कर चुका हूँ। मै उसकी दयनीय दशा से जैसे परिचित हो गया हूँ, वैसे ही उसके छिपे व्यक्तित्व से भी। उसके जीवन की विषमता मेरे हृदय मे सहानुभूति जगा गई है और उसकी अद्भुत अन्त.छवि ने मुझे आकर्पित भी किया है, पर ऐसा होते हुए भी हम कभी निकट नही आ पाये थे। क्या साथियो के अपमान से ये भावनाएँ इतनी निगूढ हो उठी थी कि मेरा अन्त.मूर्त मुझे छोडकर उस प्रताडित नारी के समीप रक्षार्थ जा खडा हुआ ? क्या यह केवल प्रताडना के प्रति अतल सहानुभूति की प्रति-

क्रियामात्र थी या उससे भी कुछ और, जिसके स्वरूप को मैं अब भी नही समझ सका हूँ।

सडक पर वर्षा के पानी का प्रवाह पूर्ववत् ही था। आकाश मे बादल मँडरा रहे थे और चारो तरफ धुंधला अन्धकार छाया हुआ था। सुदूर किसी कोने मे गहन तथा गम्भीर घन-गर्जना हो हो जाती थी, उसी समय पास के पेड़ पर आश्रय लिए किसी मोर की ध्वनि 'मे-आव, मे-आव!' गूंज उठती और वही गूंज डाल डाल की याचना बनकर शांत वातावरण को प्रतिध्वनित कर जाती थी। रह रह कर मैं आत्म-निमग्न हो जाता था। पर यह भय, कि पानी भरी सड़क पर आँख खोल सावधानी से चले बिना फिसलने, गिर पड़ने की सम्भावना है, मुझे सजग कर जाता था। मुझे लगता कि यह सब उधेड़बुन व्यर्थ है। मै स्वयं ही साथियो की बातो को आवश्यकता से अधिक अर्थ देकर भावुकता के मृग-जल में डुबकियाँ लगा रहा हूँ जिस पर मैं सदा कठोर नियन्त्रण रखता आया हूँ। और यह कीरत की माँ?—वह कौन है? एक अभागिन दुखी नारी—मजदूरिन! क्या वही मेरे भीतर आकर इतना उलट-फेर कर रही है? क्या उसकी ही छाया नही है जिसके कारण आज मेरा व्यक्ति अपने ही प्रिय साथियो द्वारा कोसा गया था? क्या उसकी ही छाया नही है जिससे आमन्त्रित होकर मेरा व्यक्ति किसी वशीकरण की तन्द्रा मे मुझे त्यागकर चला गया था? कीरत की माँ के अनैच्छिक प्रभुत्व मे मुझे अपनी दयनीयता स्पष्ट

हुई और मेरा हृदय उसके प्रति केवल तीक्ष तिरस्कार से भर गया। वह तो जैसे अनजान मेरे भीतर प्रवेश कर गई थी; मे अनचाहे अपदार्थ की तरह उसे दूर फेंक देना चाह रहा था नर्मम उपेक्षा से !.....

× × × ×

एकाएक मेरा पैर पानी मे छिपे एक गड्ढे में पड गया, मैं गिरते गिरते बचा। गरारे के नीचे का हिस्सा तरबतर हो गया। आकाश मे घिरे बादल फिर आशका पैदा कर रहे थे कि वे कभी भी मूसलाधार बरस पडे। हलकी फुहार तो गिरने भी लगी थी। मुझे शीघ्र घर पहुँच जाना चाहिए, ऐसा सकल्प आते ही मेरा ध्यान उस स्थल पर गया जहां मैं खडा था, अरे... मैं तो उस सड़क पर चला आया हूँ जहां से थोडी दूर ही एक गली उस कौरत की मा की कोठरी के लिए फटती है। मैं अपनी ही असावधानी तथा दृष्टि-भ्रम से खीज उठा।

बरखा की बूंदें ज़ोर पकडती जा रही थी। मैं छाता नहीं रखता था, हठ के नाते ही। किधर कदम उठाना है, इसे तत्काल तय करना आवश्यक था। अपने मन-ताप को लेकर उस नारी के द्वार पर बिना काम जाना मुझे अनुचित लगा। अपने घर तो भगते भगते भी रास्ते मे ही बरखा से पिटे बिना पहुँचना असभव था। आखिर मैंने यही निश्चय किया कि जब इधर आ ही गया हूँ, तो किसी और के नहीं तो दीनू वीवर के यही थोडे समय के लिये रुक जाऊं। उसकी कोठरी कोई दूर नही है, कौरत की कोठरी से पांचवी तो है ही।

अपने दोनो हाथो से गरारे को ऊपर उठाये में आगे बढ़ा और गली में घुस गया। मेरे बढते हुए पैरो का स्पर्श करता हुआ गली का नाला तेज़ी से बह रहा था, उसमें नगर का मैलापन था और सड़न थी। तेज़ सड़न शरीर के हर एक अङ्ग में घुसी जा रही थी। सिर चढ गया था, दम घुट रहा था। मैंने अपनी आंखो देखा कि ऊंचे २ मकानो के नीचे ये बनी कोठरियो की चोखटो को गंदा पानी उछल उछल कर पार करता हुआ भीतर फैल रहा है। ये कोठरियां अधिकांश प्राणियो की क्रीडा-भूमि है। जीवन का यह रूप कैसा गलित है?

वर्षा की झड़ी और छाई हुई अंधियारी मे वह गली कुछ अपरिचित, कुछ अनोखी नजर आ रही थी। वे कोठरियां एक कतार में एक-सी बनी हुई थी, गुज़री कोठरियो का खयाल मैं रख न सका कि उनमें से कितनी व कौन-सी निकल गई हैं। समाधान हेतु पीछे देखने के लिये मेरा मन इन्कार कर रहा था। मेरी सावधानी आहट न देने तथा कोठरी के द्वार से सटकर निकल जाने मे लगी हुई थी। सामने आने वाली कोठरी के दरवाज़े पर एक ऊंचा पत्थर पडा हुआ था। ऐसा पत्थर मैंने किसी कोठरी के सामने देखा नही था। मेरे खयाल से निश्चय ही मुझे आगे बढ़ना था, अतः उस पत्थर पर पैर रख कर मैंने आगे जाना चाहा। पर ज्योही मैंने अपना पैर उस पत्थर पर रखा, भीतर से मद आवाज़ आई: "देखना बाबू!"

जैसे इस चेतावनी से मैं सम्भल न सका, वैसे ही भीतर

से सावधान करने वाले का पानी भरा कर-सपुट भी बाहर निकलकर मेरे पैरो पर खुल पडा। मैंने नजर फेर कर देखा, तो मेरे सामने कीरत की माँ खडी थी। मुझे देखते ही वह साश्चर्य मुस्कराती हुई बोल उठी :

"अरे, वीरू दादा !"

उसकी विस्फारित आँखे अपना वही नैसर्गिक निगूढ निमन्त्रण लिए मेरी ओर स्थिर थी। उसने मुझे प्रथम बार ही मेरे घरेलू नाम से पुकारा था। जानती हुई भी शायद उसने अबतक यह सावधानी बरती हो। आज मेरे आकस्मिक आगमन से वह क्षणभर के लिये विस्मय-विमुग्ध हो गई थी, उसी क्षण उसके मुख से अनायास वह शब्द उच्चरित हो गया जिसे सावधानी से उसने अपने भीतर ही भीतर सहेज रखा था।

जैसे वर्षा ऋतु की झडी से मेरा वाह्य भीज रहा था, वैसे ही मेरा अन्तस् भी आज जीवन की नव-नव अनुभूतियो से घिरा जा रहा था। मैं मौन कीरत की माँ की ओर देखता रहा।

कीरत की माँ जैसे एकाएक सजग होकर बोली :

"अरे, आप बाहर खडे बरखा मैं भीजते ही रहेगे क्या?"

मैंने एक बार कोठरियो की कतार के आगे और पीछे देखकर कहा :

"कैसी भूल हुई !"

"आपसे भी !" उसकी वाणी मैं कौतूहल की झलक स्पष्ट थी, पर वह रुकी नही। उसने अनुरोध करते हुए कहा,

"यह बात तो भीतर होती रहेगी।" साथ ही उसकी दृष्टि फर्श की ओर फैल गई, वह क्षणभर संकोच के कारण मूक रही। और दूसरे ही क्षण सुविधा-दुविधा के विचार को दूर कर उसने मेरी तरफ दृष्टिपात कर कहा: "ठहरिये, ज़रा साफ पानी से पैर पखार लेती हूं। देखिये न, गदे पानी से उनको कैसा 'भीज तो चुके ही हो"'

एक कोने में तिपाई पर मटकी रखी थी, एक कलसे को पानी से भरकर वह शीघ्र ही चौखट के पास आ बैठ गई और मुझे आदेश देती हुई बोली.

"ये चप्पल मुझे दीजिए। हां, हां' बस, जरा-सा और भीगना पड़ेगा, अभी पखारे देती हूं।"

चप्पलो को दरवाजे की पल्लड़ से सटाकर रख, वह फिर अपने हाथ से मेरे पैरो को धोने लगी। खूब भली प्रकार धोकर वह खड़ी होती हुई मुस्कराती बोली:

"अब आइये !"

मेरा मानस मुझसे ही द्वंद्व कर रहा था। इस मजदूरिन के सम्बन्ध में कुछ काल पूर्व ही एक दुर्भावना मेरे मन में जगी थी, मैंने चाहा था कि इसे एक अनचाहे अपदार्थ के समान निर्मम उपेक्षा से बाहर फेंक दूं, वही मजदूरिन, कौरत की मां, मेरी इतनी आत्मीयता से आवभगत करने में लगी हुई है। मेरी ओर से कितनी अशोभनीय तथा क्रूर व्यवहार की योजना थी! कोठरी के गीले आंगन पर खड़ा हुआ मैं यही अनुभव कर रहा था कि जैसे मेरे हृदय के कपाट एकाएक

अपने आप ही उसके लिए खुल गये हैं, वहां अब ऐसा कोई कोना नही रह गया है जो उसके लिए निषिद्ध हो।

मैंने उसी स्पष्टता से कहा भी :

"यूनियन ऑफिस से जब मैं निकला, तो इरादा घर जाने का ही था। पर चलता चलता कल्पना मे ऐसा डूब गया कि जब एक गड्ढे मे पैर पड़ने से मैं गिरते गिरते बचा, तो मालूम हुआ कि मैं उस सडक पर खडा हूं जहां से तुम्हारी गली फटती है। ऊपर से बरसात गिरने लगी थी, कोई और उपाय न देख मैंने यही निश्चय किया कि चलकर और कही नहीं तो दीनू धीवर के यही थोडी देर के लिए रुक जाऊं। सच, तुम्हारे यहां तो आज मैं आना ही नही चाहता था। सोच-विचार करते समय मै तुम्हे रास्ते मे ही खूब कोस चुका था। ."

लकडी की बनी एक लम्बी चौकी के एक ओर ट्रङ्क रखा हुआ था, उसी पर बिछौने रख दिये गये थे, और बाकी हिस्से पर कीरत सोया हुआ था। एक कोने की जमीन को कीरत की मां ने कपडे से पोंछा, फिर उस ट्रङ्क पर पडे बिछौनो को उठाये हुए मेरी आखीरी बात से चौंककर मुंह फेर उसने कहा

"मुझे।" वह रुकी और कहती गई, "खैर, खैर—एक तो और तकलीफ दे दूं, चाहे फिर आप मुझे भर-पेट कोसें।" धीरे २ उसके मुख पर मधुर हास रेखा फूट पडी थी, "जरा, इस ट्रङ्क को वहां—उस कोने में रख दें।"

मैंने वैसा ही किया। तब कीरत की माँ ने अपने भार को ट्रङ्क पर रख दिया। घूमकर, उसने मेरी ओर देखा, और चौकी की ओर संकेत करती हुई वह बोली :

"यहाँ बैठिये !"

मेरे चौकी पर बैठ जाने के पश्चात् कीरत की माँ छद्म-गम्भीर मुद्रा बना कर बोली :

"मुझे कोसा, बताओ तो क्यों ?"

"इस क्यों का जवाब देना मुश्किल है।" मैंने अपने गीले कुरते के पल्ले को फटकारते हुए कहा : "कीरत के मुआवज़े का सवाल आज मीटिंग में उठा था, कुछ बातें ऐसी चल पड़ीं जो मुझे चुभ गईं। परेशान तो था ही, इधर सोच-विचार की उधेड़बुन में घर का रास्ता न पकड़ जैसे बंधा बंधा तुम्हारी तरफ आ निकला। मैं तो खीज उठा और....."

"और लगे कोसने कीरत की माँ को, क्यों न?" मुझे टोक बीच ही में वह मुस्कराती बोल उठी, "फिर उसकी कोठरी तो अपावन हो गई, वहाँ आना जाना कैसे होता ? मजबूर हो दीनू बीवर, यही तो नाम बताया था न, उसके यहाँ जाना तय हुआ। मुसीबत यही थी कि रास्ते मे उस अभागिन की कोठरी पडती थी। चुपके चुपके निकल रहे थे कि...। उस दिन भी मैंने कहा था, कॉमरेड दादा, वह अभागिन आपकी चिन्ता का कारण बनती है, तो उसे उसके भाग-अभाग पर ही क्यो नही छोड़ देते ?"

"तुम्हारे सम्बन्ध में।"

"मेरे सम्बन्ध में!—यही मुआवजे की बात चली होगी क्या आपके साथियो की राय आपसे नहीं मिलती ? वे क्या कहते हैं ? कॉमरेड दा, मैं अपने लडके का सौदा नहीं करना चाहती। जितना मिल जायगा, उसे पाकर मैं सन्तोष करूँगी। इतना चाहती हूँ कि मैं उसे पढा-लिखा कर सुयोग्य बना दूं। नगर का स्कूल गरमी की छुट्टियो मे बन्द हुआ। कीरत इस अवसर का लाभ उठाने के लिए चचल हो उठा, वह मिल में जाने लगा। और एक दिन अपने साथियो के साथ कुछ अधिक पाने के लालच मे खिचकर वह बिना कहे-सुने अपनी माँ को छोड इधर पाली आ पहुँचा, यह आशा किये था पागल कि जब माँ के पास लौटेगा, वह उसकी गोद को रुपयो से भर देगा। संसार का ज्ञान ही कितना है उसको! इसलिए, कॉमरेड दादा, मैं इसे जैसे-तैसे वापिस ले जाना चाहती हूँ।"

"जाने की ही क्यो सोच रही हो ? कीरत को पढाना-लिखाना चाहती हो, तो उसका प्रबन्ध यहाँ भी हो सकता है। मैं इसकी देखभाल करता रहूँगा।"

"आपकी उदारता का सागर तो अपार है, कॉमरेड दा, पर कीरत की माँ इधर किसी के अकुश मे न रहने के कारण इतनी हठी हो गई है कि भली बात कहने वाले को भी वह रूखा उत्तर देने मे नही चूकती। वह जानती है कि आपको देख-रेख मे कीरत फलेगा फलेगा पर आप नरा न माने

उसकी माँ अपने लड़के को खुद अपने हाथो से उठाना चाहती है। इस ससार में उसके लिए इतना ही तो काम बचा है। उसे और करना भी क्या है? खैर, इस बात को जाने दीजिए। मुआवज़े के सम्बन्ध में, कॉमरेड दा, आपके साथी जैसा ठीक समझें, वैसा ही निपटा देवें। आखिर उससे सारी जिन्दगी तो बसर हो नही सकेगी। आप अधिक चिन्ता न करें।"

कीरत की माँ को कैसे समझाता कि मेरी चिन्ता का कारण कुछ और ही है, फिर भी, मेरे साथियो की हेय तथा घृणित मनोवृत्ति का थोडा बहुत परिचय मैंने जैसे–तैसे उसे दे दिया। कीरत की माँ अटल शान्ति से सुनती रही, उसके मुख पर विकार की कोई रेखा दिखाई नही दी मानों उसके लिए यह कोई स्तब्ध करने वाली कल्पनातीत बात न हो।

कहता कहता मै भावावेश मे उत्तेजित हो उठा। समाज में नारी, उसकी सत्ता व अधिकार आदि पक्षो पर अपने विचार अनायास ही मेरे कथन मे व्यक्त हो उठे। आज मैंने अपने साथियों के नव–समाज के धुंधले–से रूप का दर्शन भी कर लिया था, जहाँ न नर तथा न नारी के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के लिए कोई स्थान है। कीरत की माँ वहाँ एक सामाजिक प्राणी है, समाज के हितार्थ उसके लिए कठोर अनुशासन में रहकर कुछ निश्चित कर्त्तव्यो या कार्यों का पालन करना अनिवार्य है। उसके बाद वह केवल नारी है, नग्न नारी! अपने नारीत्व की भूख को तृप्त करने के लिये वह मुक्त है। और इसी भाँति उस समाज का नर भी इसी क्षेत्र में स्वतन्त्र

है। नर का नरत्व नारी के लिए प्राप्य है और नारी का नारीत्व नर के लिए ग्राह्य है। नर के लिए नारी तथा नारी के लिए नर इसके अतिरिक्त और कुछ नही हे।—पर क्योंकि यह अनुभूति नई, विशृंखलित, तथा अपरिपक्व दशा मे थी, मैने जो कुछ कहा उसमे वर्तमान की दारुण अवस्था का ही चित्रण था।

कीरत की माँ देर तक सुनती रही। मेरे रुकने के बाद उसने अपना सिर उठाया, और वह कहने लगी

"अभी कुछ दिन पहिले भी तो यही बात चली थी। उस दिन भी मैंने यह कहा था कि आज की नारी, जैसा आप कहते हैं, समाज तथा उसकी निर्धारित मान्यताओ और धारणाओ मे कैद है। वह सदियो से धर्म और रीति-रिवाज मे छोटी से बडी होती रही है जिसका एक एक हर्फ आदमी को ऐसी सुविधा तथा हक दिये हुए है कि वह औरत को अपने लाभ व मनबहलाव के लिए हर प्रकार से इस्तेमाल कर सकता है। नारी को त्याग तथा सहनशीलता का महत्व बताया जाता है, उसे तोते की तरह खिला-पिला कर मोटा किया जाता है, सीख दी जाती है कि वह पिंजरे मे ही फड-फडाये, मीठी बोली बोले। इस आश्रित, अपाहिज जीवन मे लगातार रहने से ही अब नारी की तमन्ना ही ऐसी हो गई है कि पिंजरे का दरवाजा खुला देखकर स्वय तो उडना चाहेगी नही, किसी को उडता देखेगी तो टें-टं टें-टें चिल्ला उठेगी,

'कुलटा, रीति-नीति तोड रही है। सारी लाज शरम खो बैठी है।' "

"ऐसी ही जड़ता आ गई है नारी के जीवन मे, कीरत की मां।" मैंने उत्साहित होकर कहा, 'हमारे समाज मे उसे बडी भ्रमित बातें बताकर भुलावा दिया जाता रहा है। कुल का सम्मान, मर्य्यादा और अधिकार जिस पर भोली औरतें लुभाई जाकर अपना सब कुछ खो चुकी हैं, वे केवल आदमी की आत्म-तुष्टि मात्र हैं। वह मालिक है और नारी उसकी सेविका—सेविका कहकर काफी भले शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ। तुम देखोगी, कीरत की मां, कि यह मालिकपन की महत्वाकांक्षा यही तक नहीं रुकी है, वह आगे चलकर नर और नर मे भी वही भेद डाल चुकी है। हमारे समाज का ऐसा गौरवमय ढांचा बन गया है। तुम समझी न। तो नारी इस तरह आज सत्वहीन है। उसे बचपन में वह प्यार, वह हँसी, वह क्षेत्र नही मिलता जो कि उसके सहोदर को हासिल होता है, फिर बडी होने पर उसकी सम्मति की उपेक्षाकर उसे किसी अनजान पुरुष के हाथ में दे दिया जाता है और अग्नि की साक्षी मे उसे यह वचन देने पर मजबूर किया जाता है कि वह अनजान आज से उसका सब कुछ है, उसका देवता है। इसके बाद, इसके बाद जिसे हम सधवा कहते है, अपने सौभाग्य को लिए हुए भी उसकी सारी कहानी कटुता, बेबसी और आह से भरी हुई है, और जिसे हम विधवा कहते हैं, अपने दुर्भाग्य को लिए वह तो अपनी जीवन-क्रिया को ही

रुकी हुई पाती है, उसका इस दुनियां मे कुछ नही रहता। वह केवल अथाह अन्धकार, असह्य पीडा और आत्मदाह के क्षणो मे अपने आपको खोती चली जाती है। मानव जीवन को ऐसे रूप मैं लाने वाली सभ्यता की रहनुमाई करने वाले कहते हैं कि वह भाग्य का कोप है। और यह क्यो ? फिर हमारी सभ्यता, धर्म, रीति-रिवाज को श्रेष्ठ कहने का दुरागह क्यो ? वह भाग्य न मालूम कैसा शक्तिशाली है कि हमारी सभ्यता के मन्दिर पर प्रहार करता है और वह नि सहाय है, निर्बल है ! हमारे सच्चे असूल भग होते है, झूठे वचन झड पकडते है। इसलिए क्या यह ठीक नही है, कीरत की माँ, कि हमे ऐसी सभ्यता के आधार पर इस समाज का फिर गठन करना होगा जो भाग्य, रूढिगत बन्धन, धर्म जैसी चीजो से मुक्त हो। नारी को भी उसके बनाने मे बराबर का हिस्सा लेना है, इसके लिए उसे अपने सत्य को पहिचानना होगा, उसे आत्म-निर्भर बनना होगा और जग उठना पडेगा। "

कथन के आवेग के कारण मेरे मुख पर जो रक्तिमा— शायद वह आकर्षणमय रही हो—गुम्फित हो गई थी, उसकी ओर कीरत की मां के प्रस्फुटित नेत्र अटक गये थे। इस बात का भान मुझे तब हुआ जब गला रुँधने के कारण मुझे एकाएक रुक जाना पडा और मेरी दृष्टि बोध-गम्य हुई। आँखो के चार होने पर भी, जैसे कीरत की मां ऐसे अवसर पर अपने नेत्र झुका लेती थी, इस घडी वह अपलक मेरी ओर देखती ही रही, कुछ देर बाद, जैसे तन्द्रा से मुक्त हुई हो, वह सस्मित बोली

"ऐसा चाहते हो, दादा ! इस चाह को पूरी करने की कोशिश और उसकी सफलता को मै अपनी जिन्दगी में देख सकूं। और मेरी उमर कोई ज्यादा नही है, फिर भी जितना हो सका है, मैंने भी पढा है।..."

हृदयावेग में ही मैंने कीरत की माँ के अन्तिम वाक्य को सुना और समझा। मैं कह बठा :

"सच, तुम ''तुम, कीरत की माँ, पढी हो ! तो मैं तुम्हारे लिए कुछ किताबें '''तुम्हे पढना चाहिये। अबतक जो भी तुमने पढा होगा, वह तो मेरा विश्वास है बुर्जुआ विचार-धारा को ही पुष्ट करने वाला होगा। तुम आज के साहित्य को पढोगी, तो तुम्हे मालूम होगा कि हम कितने अज्ञान मे हैं।"

कीरत को माँ हँस पड़ी, वही मोहक मार्दव लिए। उसने हाथ से नीचे खिसकते हुए आँचल को सम्हाला और फिर वह कहने लगी :

"आप एक तरह से तो ठीक समझे, कॉमरेड दादा, मै पढी हूँ। जब छोटी थी, मैं गाँव की पाठशाला मे भरती हुई थी। पर मेरे कहने का अभिप्राय तो यह था कि नारी होने के नाते जीवन के सुख-दुख सहन करते हुए मुझे इस छोटी उम्र मे ही काफी अवसर मिला है नारी की—और नर की भी जीती-जागती किताब को पढने का ! मेरी जिन्दगी को देखो न, कितनी बातें हुई हैं एक से एक निराली तथा बहुरूपी। इसलिए, दादा, आपकी ये बातें मुझे ऐसी नही लगती कि ये कोई किताबो मे ही पढकर सीखी जा सकती हैं।"

कीरत की माँ के कथन की सच्चाई की अनुभूति मै पहिले भी कर चुका हूँ। आज मनोवेश से वशीभूत होकर, उसे भूल, एकाएक जो आग्रह कर बैठा था, मै मन ही मन लज्जा से क्षुब्ध हो उठा। मुझे ऐसा प्रतीत होने लगा कि जैसे उसने मुझे तोल लिया है। वास्तव मे, मेरा अपना अधिकाश ज्ञान किताबो के पठन-पाठन पर ही निर्भर था, इसे मैं इन्कार कर अपने को धोका नही दे सकता। वह स्वय मेरे लिए जीती-जागती किताब थी। क्या मुझे इसके अतिरिक्त कोई अन्य किताब पढने का अवसर मिला है ? और उसे पाकर भी क्या आखिर मैने उसको पूरा पढ लिया है ?

अपनी जन्मदात्री का स्मरण बचपन की कुछ लहराती सुखद स्मृति के आधार पर ही करता रहा हूँ। मेरे पिता ठाकुर थे, मेरी माता उनकी पासवान कही जाती थी। पति-पत्नी के सिवा कौन कह सकता है कि वे आपस मे कितने निकट थे ? इसीलिए जब वह सदा के लिए विदा हो गई, तब भी पिता ने मेरे लालन-पालन तथा पठन-पाठन मे अपना प्रेम-भरा हाथ बनाये रखा। इधर कोई दस साल हो गये हैं कि वे गोलोकवासी हुए। उसके पूर्व ही उन्होने मेरे लिए समुचित प्रबन्ध कर दिया था। उनके वात्सल्य से मैं सरोबार था ! पर उनके अतिरिक्त उस बडे रावले मे मेरा अपना और कोई नही था। पासवान की कोख मे पैदा होने तथा ठाकुर साहब का प्रेम-भाजन समझे जाने के कारण मैं बचपन से ही हर एक व्यक्ति की ईर्षा का शिकार रहा। वे दबे दबे

द्वेषानल भरी कूटोक्तियो से मुझे अपमानित करते रहते, उनका तिरस्कार–उनकी घृणा मेरे लिए असह्य थी। मैं अपने मे ही डूबा एकान्त में बाहर फैली आग की तपन को सहता रहता था। ठाकुर साहब की मृत्यु के बाद वहाँ से मैं निकल पडा। शिक्षित था, साधन-सम्पन्न था—मै इस समाज का प्रबल विरोधी बन गया। साम्यवाद में मैंने चिर मुक्ति देखी, पार्टी की सदस्यता स्वीकार कर ली। पार्टी मे सम्मिलित होने के बाद मेरा सम्पर्क, मेरा उठना-बैठना ऐसी युवतियो के साथ ही रहा है जो छात्राएँ हैं, और जिनका जीवन खुशहाली लिए है। वे सुलभ परिस्थितियो का उपभोग करती हुई प्रगतिगामी हैं। उनके चारो ओर आकर्षण नाचता है और अपने उन्मुक्त जीवन का लाम फैलाती हुई वे अनेको को उसके वर्तुल में बांध लेना चाहती हैं। जीवन तो क्रीडामात्र है, वे इससे अधिक मान देकर जीवन को असत्, अमानवी तथा नीरस बनाना नहीं चाहती। पर क्या नारी जीवन का वास्तविक स्वरूप वही है? मेरा अध्ययन कितना एकांगी, सीमित तथा जीवन-हीन है! मेरा मन अपनी ही कमज़ोरी में डूब रहा था।

कुछ देर बाद कीरत की मां फिर कहने लगी·

"नर होकर आप जो नारी की दुखदायी हालत को बदलने के लिए कोशिश कर रहे हैं, यह क्या कम बात है? इस उदार भावना के लिए मेरे दिल मे श्रद्धा ही हो सकती है और होनी चाहिये भी। क्यो न? पर कॉमरेड दा, आप

अपने से दूसरे आदमियो को इतना अलग क्यो समझते हैं ? उन पर भी विश्वास क्यो नही करने देते ?"

उसने आनत मुख से मेरे प्रति या मेरे कार्यों के प्रति निष्ठा प्रकट की और फिर अपनी पलक को तनिक ऊपर उठा कर चपल दृष्टिपात के साथ उसने यह प्रश्न भरा आरोप किया जिसे एकाएक मैं समझ ही न सका। उसकी ध्वनि मे पहिले जैसी सरलता, नि छलता और स्निग्धता थी। अपनी स्मृति पर जोर डालकर भी मै ऐसी कोई बात स्मरण न कर सका जो इस आरोप का कारण रही हो। मुझे बोलते देखकर वह स्वय ही पहिले कहने लगी

"मै कहती कहती कैसी कटु बात कह गई !—आप जवाब देना चाहते होगे। आप विद्वान हैं इसे क्या मै नही जानती ? पर मै कहती हूँ उसे सुन लो, कॉमरेड दादा, कि नाव मे बैठा कोई अगर मल्लाह का विश्वास नही करेगा तो फिर उस नाव की गति सोची जा सकती है। आप तो नर-नारी के बीच के सारे परदो को हटाना चाहते है, तो मै अगर कुछ ऐसे ही ढग से कहूँ, तो यह मत कहना कि कौरत की माँ बड़ी मुँह-फट है। मानो किसी वैसी ही अस्थिर भावावेश से जगी कामना पर जिसकी कल्पना कर आपके साथियो ने आपको मुझसे बाँध दिया है" वह रुकी, मेरी ओर तीव्र दृष्टि से देखकर फिर मुसकराती कहती गई "उस खयाल पर अगर मै अपने विश्वासो को भुलावा नही दे सकूं और उन्हे पालती-पोसती हुई आपकी न बनकर भी जीती रह सकूं, तो

क्या आप मुझे रूढ़िवादिन ही कह देंगे ? उस नगर में भी आपकी पार्टी के कुछ साथी काम करते हैं। उनमें से एक दो की ऐसी ही कामना को मैं बारबार कोशिश के बावजूद भी पूरी नही कर सकी। वे मेरी जैसी विधवा और थोड़ी बहुत खूबसूरत युवती पर ऐसा हक रखते प्रतीत हुए, क्योंकि ऐसी बातें करने में उनको कुछ हिचकिचाहट भी नही होती थी। मैंने तो पहिले ही कह दिया है, दादा, कि आपकी तरफ से ऐसी कोई बात नही उठी है और ऐसा खयालकर मैं इस वेदना-भरे जीवन को और भी कड़ुवा बनाना नही चाहती हूँ। मेरा कहना केवल यह है कि चाहे आप नर-नारी के जोड़े को किसी किताब में नाम दर्ज कर या चाहे हवन-अग्नि की साक्षी देकर अपने समाज में भेजें, उनके आपस के विश्वास को कभी तोड़ने का उन्माद फैलाने की कोशिश न करें। किताब में नाम दर्ज करने का महत्व तो मैं नही जानती, सुनती हूँ सो सुनी बात को यकायक मैं ठीक भी कैसे मान सकती हूँ, पर हवन-अग्नि की परिक्रमा मैंने १४ वर्ष की उम्र में एक नर का हाथ पकड़कर की थी जो मेरे लिए अनजान नही था। हवन-अग्नि की धधकती लपटों की रोशनी में मैंने उस नर के साथ कदम बढ़ा दिया था, यह जानती हुई कि आगे आने वाली जिन्दगी केवल रोशनी ही रोशनी नही है, उसमें तपन भी है। इस तपन का भाग, चाहे कैसी ही व्यवस्था क्यों न हो, नर ही को अधिक सहना पड़ता है, तो क्या नारी अपने को उससे बचाये रखने के लिए उसमें

विश्वास को खो बैठे और उस नर को जिसका कि एक बार उसने साथी की तरह हाथ पकडा था, छोडकर बरबाद कर दे ? जिन्दगी समतल होती, तो क्या ही अच्छा था ? ऐसा नही है, इसीलिए लेन-देन में देने पर अधिक जोर डाला जाता है। पर मैं यह मानती हूँ कि यह देना केवल एक ओर का नही हो सकता, इससे तो जीवन का सार ही चला जाता है। आज की स्त्रियो के भाग मे देना मॉड दिया गया है। ”

कारत की माँ की वाणी ओजपूर्ण हो गई थी। मुझे कार्ल मार्क्स की धर्म-पत्नी की याद आ गई। इस साधारण मजदूरिन की वाणी मे उसकी आत्मा बोल रही थी। मै यह सोच नही सका कि अगर वह अपने आवेग के क्षणो मे मार्क्स के प्रति विश्वास को खो देती और अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेती, तो मार्क्स की जीवन-धारा का कैसा रूप होता ! क्या वह अपनी भीषण परिस्थितियो की चिन्ताओ मे अकेला अपने मार्ग पर बढने मे सफल होता ? श्रीमती मार्क्स का जीवन सच्चे सहचर्य का प्रतीक है और सच्चा सहचर्य कुछ सहिष्णुता और त्याग चाहता है। मै यो विचार-मग्न था। मेरी इस मौन-समाधि को भग करती हुई कोरत की माँ एकाएक हँस पडी और बोली.

“कॉमरेड दादा, क्या आपकी शादी हो गई ?”

सुनकर मै चौक पडा, इस अप्रासगिक प्रश्न का अर्थ ? पर वह प्रश्न मेरी हृदतत्री को झकृत कर गया, मै मुस्कराता हुआ बोला

"नही ।"

"नही न ।" वह रुकी, ऐसे कि मेरी आँखो मे पैठकर वह मेरे हृदय को खुला देख लेना चाहती हो । क्षणभर वाद ही वह सस्मित कहने लगी, "तभी, दादा, तभी !' 'और आपके मुख पर कैसी लाली छा गई है, वताओ तो । यही वात कह जाती है कि उस वडभागिन नारी की तरफ केवल इशारा करने से आपका दिल कोमल हो उठा है । आप इसे इन्कार नही कर सकते, कॉमरेड दादा !"

"तो ?" मै उसकी वात का सूत्र पकड़ने में असमर्थ था ।

"तो ।" उसका मस्तक नत हो गया, वाणी कुछ गभीर, "तो, कॉमरेड दादा, यह ठीक मानो कि हरएक आदमी की जिन्दगी में एक ऐसा पल आता है । आप यह नही कह सकते कि मै मै हूँ और वह वह है । आप लोग जव इस सवाल पर वात करते हैं तो आप अपने से दूसरो को अलग मान लेते हैं ।"

वही आक्षेप था । वह कितनी चतुराई से मुझे अपने अभिनव मत की ओर खीचे लिये जा रही थी । यह सच था कि विवाह की वात के उल्लेख-मात्र से मेरा हृदय सात्विक तथा स्निग्ध भावना से लहरा उठा था । ऐसा एक पल हरएक प्राणी के जीवन में आता है, स्वभाविक लगता है । एक समय वह भी इस कोमल धारा में वही होगी, वह अब उसके चिरन्तन अस्तित्व को सुरक्षित रखना चाहती है । उसकी निष्ठा में आत्म-गौरव है । पर, पर हमारे समाज के आँगन को देखो—क्यों इस कोमल धारा की गोमुखी का प्रवाह अवरुद्ध

होता हुआ पाया जाता है ? और क्यो उस मूल धारा के प्रवाह को एक बनावटी नहर की ओर बलात् मोडने की कोशिश की जाती है ? और उनकी शुष्कता मे भी वेबसी से भरे जीवन को व्यतीत करने के लिए जोर दिया जाता है ?— ये विकृतियां हमारे समाज मे हैं। मैने कहा

"तुम्हारी पैनी नजर ने मुझे पकड लिया है, इसलिए यह तो कैसे कह सकता हूं कि इस सम्बन्ध मे दूसरे आदमी मेरे से भिन्न है। पर हमारे समाज के नियम ऐसे एकपक्षीय तथा कठोर हैं कि जिसमे मै भी पिस सकता हूं और वे दूसरे भी। तुम अपनी जिन्दगी को ही देखो न, क्या वह इस उम्र मे ही खत्म नही की जा चुकी है ?"

कुछ देर तक वह चिन्तन मे लीन दिखाई दी, फिर वह बोली:

"दिल की कमजोरी तो समाज के घात के पहिले ही किसी की जिन्दगी को खत्म कर सकती है कॉमरेड दादा ! और क्या आप समझते हैं कि मेरी जिन्दगी खत्म हो गई है ?"

उसके मुख पर अद्भुत आभा विकीर्ण हो गई थी। उसने मेरी ओर देखा और सरलता से प्रश्न किया "आप क्या राह बताते हैं ?"

मुझे प्रश्न के अन्तर्गत स्वभाविक तौर से वास करने वाली जिज्ञासा तनिक भी नही मालूम हुई। मै क्षणभर के लिए अवाक् रह गया। पर फिर प्रश्न के समान ही स्पष्ट व सीधा

उत्तर देना मैंने उचित समझा : "तुम्हें शादी कर लेनी चाहिए।"

वह खिलखिलाकर हँस पडी, पर शीघ्र ही अपने आपको एकाएक संयत कर बोली :

"कौरत भी क्या समझेगा कि माँ कैसी है ! ··कॉमरेड दादा, इस जाटण बेवा के लिए तो न रोक-टोक है और न वह किसी के आसरे पडी हुई है। वह चाहती, तो उसमें बाधा कौन डाल सकता था ? मैं निजी अनुभव से कहती हूँ कि जो भी कोई मेरे पास आया है, वह नाता जोड़ने के लिए तो ललचाया हुआ देखा गया, पर जिम्मेदारी के लिए वह शायद ही तैयार पाया गया। सब कोई खेल खेलना चाहता है, इससे ज्यादा नहीं। पर मुझे तो सब कुछ सोचना पड़ेगा न। नहीं सोचती, तो मेरी कमजोरी मुझे ही लेकर डूब मरती। तब आप ही बताइये कॉमरेड दादा, अगर मैं विधवा की जिम्मेदारी को निभाने में उस पहली पुलक को कायम रखे हुए हूँ, तो क्या मेरे लिए इतना जीने के लिए कम है ?" वह रुकी, और कौरत की ओर संकेत करती हुई वह फिर कहने लगी, "ईश्वर ने इसके बाप को उठा लिया है, पर मैं रहती हुई भी अगर माँ की जिम्मेदारी से मुँह मोड लूं, तो इससे अधिक कमजोरी और क्या हो सकती है ? इस कौरत के पीछे मैं इसीलिए मारी मारी फिरती हूँ।"

मातृत्व का यह तरल पक्ष, जो मेरे सामने खुल पडा था, जीवन को बनाये रखता है—मुझसे इस प्रकार कभी विचारा

ही नही गया था। मैने समझदारी की उम्र में माँ के हृदय को पाया भी नही था, मेरा शुष्क तथा शून्य हृदय उन प्रेम बिन्दुओ को प्राप्त करने के लिए तरस उठा। और कोरत की माँ! वह अपने इकलौते बालक से बधी रहना चाहती है, अपना जीवन का उसके लिए उसने उत्सर्ग कर दिया है। वह मुडे कहाँ, किधर ? मेरे साथियो के द्वारा प्रकट किये हुए विचार कोरत की मा के कथन को ही पुष्टि कर जाते थे। वे साथी मुझसे यह तो चाह नही सकते कि इस गरीब विधवा से मै मन-बहलाव के अतिरिक्त कोई एक स्थिर सम्बन्ध बना लूं। क्या ऐसा खेल जीवन को गति देता है ? मेरे साथी किस आधार पर ऐसी मनोवृत्ति रखते हैं ? क्या क्षणिक आवेग मे अपनी दहिक कामना को तृप्त करने के लिये दूसरे के जीवन को ऐसी राह मे डाल दिया जाय जहा उसे आज को जिम्मेदारी से ही विमुख नही होना पडेगा, साथ ही नई जिम्मेदारियो को विभीपिका मे भी एकाकी छोड दिया जावेगा ? पर कोरत की मां की परिस्थिति मे यह भी तो सम्भव है कि वह सम्बन्ध-सूत्र ऐसा चिर हो जो आज और कल—दोनो को सारी जिम्मेदारियो को समान बँटाने का हेतु बन जावे। मैन उसी ओर सकेत किया

"कोरत की मां, अगर तुम्हारे जीवन को सारी जिम्मे-दारियो को बँटाने वाला मिल जावे, तो ."

उसने बीच ही मे टोकते हुए कहा :

'हो तो क्या नही सकता, कॉमरेड दा, पर जाने दीजिए।

आज तो आपको काफ़ी देर हो गई है। ऐसे आदमी को आप खोज सकें, तो फिर ”

वह अपने वाक्य को समाप्त न कर खिलखिलाकर हँसती हुई मेरी ओर देखने लगी। उसके कथन में जो मीठा कटाक्ष था, उसे जानकर भी मैं आने के लिए एकाएक खड़ा हो गया।

मेरे पीछे २ आती हुई वह बोली:

“फिर कब आइयेगा, दादा !”

“आऊँगा।” कहकर मैं बाहर निकल पड़ा।

आकाश में बादल छितरे छाये थे और कभी कभी चन्द्रमा की ज्योत्स्ना पृथ्वी पर छिटक पड़ती थी।



: तीन :

प्रभात मे जब मेरी नीद टूटी तो मैने अनुभव किया कि रात्रि का विश्राम मेरे मन को शाति देने के स्थान पर उद्वेग से भारी कर गया है। कैसे स्वप्नो का आवर्त्तन था और उनका एक दूसरे मे विलयन! मुझे ऐसा महसूस होता है जैसे इस स्वप्न-शृङ्खला के कारण मै निद्रा अवस्था मे उद्वेलित होता रहा हूँ। उन सबका स्मरण तो नही रख सका हूँ, पर एक अवश्य, अस्पष्ट होता हुआ भी, याद है कुछ। एक बडा हॉल—पुष्पमालाओ तथा झडियो से सुसज्जित—मानो विवाहोत्सव के उपलक्ष मे भोज का आयोजन किया गया हो—फूलो की वर्षा हो रही है—मै इधर उधर घूम रहा हूँ—घूम क्या रहा हूँ मै स्वय ही तो वर हूँ और मेरी वधू वही तो है कॉमरेड कीर्त्ति जिसे पार्टी के वार्षिक अधिवेशन पर मैने बम्बई में प्रथम बार देखा था—मै और नव-वधू पास पास खडे आमन्त्रित व्यक्तियो को, हाथ मिलाकर, विदा कर रहे है—सारा भवन शून्य हो गया है— अन्तिम अतिथि को विदाकर मै ज्योही घूमता हूँ, देखता हूँ नव-वधू भवन के बाई ओर वाली सीढियो पर खडी हुई है—मै उधर ही रवाना होता हूँ, दौड पडता हूँ—सीढियो तक पहुँचने पर देखता हूँ नव-वधू तो कई सीढियाँ ऊपर चढ गई है—वेग से मै स्वय सीढियाँ चढने लगता हूँ पर उनका अन्त नही है जैसे—पर मै तो अब अपने कमरे मे ही हूँ—भीतर घुसकर आगे बढते हुए मै किसी

से टकरा गया हूँ—पूजा की थाली गिर कर बिखर पड़ी है—और नव-वधू वहीं फर्श पर बैठ गई है घूँघट निकाले—शायद वह रो रही हं—क्यो ? क्या मैंने उसकी आशाओ को नष्ट कर दिया है ? मै झुक कर उसके घूंघट को दूर कर देता हूँ, कहना चाहता हूँ, मुझे माफ़ करो, मेरी अरे, उसकी कितनी दयनीय मुखाकृति हो गई है, मेरी वधू ! मेरी जीवन-सगिनी कॉमरेड कीर्त्ति !—नहीं, नहीं वह मुख तो कीरत की माँ का है—कीरत की माँ !—वे ही विशाल आँखें—अपने ही दुर्निवार मार्दव में क्रीडा करती हुई—वे ही अरुणिम पतले अधर—अपने ही अतृप्त आमन्त्रण मे कम्पन करते हुए—मैं और कीर्त्ति, मैं और कीरत की माँ!—मै भयसिक्त विस्मय में उत्तेजित होकर पूछता हूँ, 'कीरत की माँ,तुम यहाँ !' —वह खिलखिलाकर हंस रही है—अपने नेत्रों मे आँसू लिए और अधरो पर कम्पन लिए— मै चौंक पडता हूँ—किवाड खटखटा रहे हैं—बाहर से मेरे साथियो की आवाजें आ रही है—वे एक साथ पुकार रहे हैं, 'दरवाजा खोलो, नही तो उसे तोड देंगे, कॉमरेड वीरो ! हम तुम्हें बधाई देने आये हैं ।'—मैं चिल्ला उठता हूँ 'नही खोलूंगा, मै नही जानता यह यहाँ कैसे चली आई, क्यो आई ? और तुम, तुम मेरा अपमान करने के लिए · नही, नहीं खोलूंगा !'—धक्को से दरवाज़ा टूट जाता है--सब शून्य हो जाता है—शून्य ?—यह तो कीरत की माँ की कोठरी है—वह मुझे कह रही है,'तुम फिर आये ? मेरे कीरत को मारने वाले, उसकी निर्मम हत्या करने वाले !

और इस पाप के भार को मेरी गोद में देकर मुझे लूटने वाले—चले जाओ ! निकलो—मैं तुम्हारा मुख नही देखना चाहती—जाओ, जाओ !!'—कहती कहती वह घडाम से जमीन पर गिर पडती है।

यह स्वप्न मेरी अपनी दुर्बलता का सच्चा चित्र था। किसी जीवन-सगी को खोजने का भार देकर उसने मुझे अपने आपको खोजने को आगाह कर दिया था, मानो स्वय अपने आपको समझने के, जानने के पूर्व ही वह मेरे मन की जानकार हो गई थी! कीरत की माँ ने कहा था कि दिल की कमजोरी समाज के आघात के पहिले ही किसी की जिन्दगी को खत्म कर देती है। मै इसी दुर्बलता की आत्म-प्रतारणा में विकल था—क्योकि यह साफ था कि उसकी तीव्र दृष्टि ने शायद मुझमे एक और अपराधी पा लिया था। वह भावना, जो उसके प्रति मेरे हृदय मे जगी है, क्या क्षणिक उन्माद नही है ? क्या वह चिर-सूत्र का स्थायित्व लिए हुए है जैसी कि मैंने अपनी सम्मति प्रकट की थी ? मुझे भय था कि मैं सच्चा उतर पाऊँगा। इसलिए, कारण होने हुए भी मैं उसके यहाँ कई दिनो तक नही जा सका।

एक दिन जब मैं मिल से ध्यान-मग्न बाहर निकल रहा था, एकाएक शफाखाने के पास से गुजरते हुए 'कॉमरेड दा !' मद सम्बोधन सुनकर मैं चौंक पडा। कीरत की माँ अकेली पास ही दाहिनी ओर खडी थी। मै हतबुद्धि उसकी ओर देखता

हुआ जहाँ का तहाँ खड़ा रह गया। वह मेरे पास आई और उलाहना देती हुई बोली:

"आप तो आये ही नही, कॉमरेड दादा !"

कार्यव्यस्त-सा आभास देता हुआ मैं अपने विकृत स्वर में बोल उठा:

"आ ही न सका। इधर बहुत काम—और कीरत कैसा है ?"

"वह अब ठीक है।" और फिर मद मुस्कराती हुई वह बोली, "आइयेगा न !"

"हाँ, हाँ !" कह कर मैंने तेजी से आगे कदम बढा दिये।

× × × ×

सोचता हूँ कि कीरत की माँ को, यह रङ्ग-ढङ्ग देखकर, जरूर आश्चर्य हुआ होगा। पर जब मैं चार दिन बाद उसके यहाँ गया यह सूचित करने कि पूरा मुआवजा मंजूर हो गया है, उसने उस दिन की बात का तनिक भी जिक्र नहीं किया। वह वैसी ही उन्मुक्त थी। कीरत बाजार से कुछ सामान लेने गया था और वह उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। मुझे देखते ही वह खिल उठी। मृदु मुस्कान के साथ उसने मेरा स्वागत किया।

कीरत की माँ से मैं जब जब मिला, मैंने उत्साह से उसके सामने हमारे समाज और विशेषकर नर-नारी के सवाल को रखा था। पर आज मैं उसके उठाये जाने की बा

कंपित हो रहा था । कीरत की माँ ने बातचीत के सिलसिले मे अपने जीवन की घटनाओ का उल्लेख कर वह चर्चा चला ही दी । वह कहती रही, और मैं सुनता रहा ।

मुझे गहरा आश्चर्य हुआ कि जीवन-सूत्र कैसे तो गठित होते हैं और फिर वे कैसे विच्छिन्न हो जाते हैं । बहुत अरसे की बात थी कि एक पार्टी-कॉमरेड के आग्रह से मुझे 'नगर जाना पडा था । दो एक रोज ठहर कर मैं रात्रि को गाडी को पकडने के लिए स्टेशन प्लेट-फार्म पर घूम रहा था । एक व्याकुल-सी औरत किसी को खोजती हुई मेरे पास से गुजर गई—हवा के झोके-सी । स्टेशन पर टिमटिमाती हुई लालटेन के आसपास प्रकाश के सिवा अन्धकार ही अन्धकार सब जगह छाया हुआ था । ऐसी छाया के आने-जाने की अनुभूति मुझे एक दो बार और हुई । मैं नपे-तुले कदम बढाता हुआ प्लेट-फार्म के इधर उधर अपनी ही बिचारधारा मे तल्लीन घूमता रहा । एकाएक मै रुक गया, मेरे पास से पेठमेन हाथ की लालटेन को हिलाते-डुलाते गुजर रहा था और उसके पीछे पीछे अनुनय-विनय करती हुई वही व्याकुल औरत कहती जा रही थी

"मैने देखा, दादा, पर कही नही मिला । तू निगाह रखना, वह चला न जावे । "

"जाने भी दे । तुझे तो भूखो मरना न पडेगा । मैं जिम्मा लेता हूँ । एक तो है ही, तू एक और सही । आदमी के घुटनो मे बल "

"ऐसी बात न कह, दादा, तेरा सदा के लिए एहसान मानूंगी।"

"याद रखना री, फिर बेवफा न होना। तो तू जा, गाड़ी से तो वह किसी तरह जा नही सकेगा। देवा की आंखो में धूल डालने वाला कोई अभी जनमा ही नही है। तू जा।"

"पर यहां तो वह दिखाई देता नही, दादा!"

"और तू उसे पकड लेती, क्यो न ?"

"तो फिर क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ?"

"जावे कहां, घर जा। कह तो दिया, मै सब देख लूंगा।"

यो बात करते हुए वे दोनो अन्धकार मे विलीन हो गए। मै स्तब्ध-सा खड़ा था। आज की बातचीत से पता चला कि वह औरत और कोई नही, कीरत की माँ ही थी। कीरत मिल-एजन्टो से फुसलाया जाकर दूसरे लड़को के साथ अपनी माँ को छोड़ कर पाली चला आया था। महिने भर तक उसका पता न लगा, आखिर एक दिन कीरत की माँ के पास एक कागज आया जिससे उसने अपने बिछुडे लडके का पता पाया और साथ ही यह जाना कि उसके सीधे हाथ की उँगलियाँ कट गई हैं। लड़के की करुण पुकार को सुनकर माँ दौड़ी दौड़ी आई और अपनी फैली बाहो में भरकर उसने अपने घायल लड़के को दिल से लगा लिया। वह पत्र मैंने ही लिखा था।

उसने इस दुःखभरे जीवन-पक्ष के पूर्व की भी बातें कही। गाँव की, उसके स्वजनों की उसके जगलों की उनकी पगर

की, उसके पनघट की—उसकी अनेक मधुर स्मृति लिए एक एक स्थान को जहां उसका बाल व किशोर काल बिखरा पडा था। एक दिन, उसने कहा, जब कि वह खेत की डोली पर निमग्न बैठी हुई थी, उसके हमजोली साथी ने चुपचाप पीछे से आकर दोनो हाथो से आंखे मीच ली। वह चौंक कर बोली:

"कौन ?"

उस साथी ने उत्तर दिया, 'तू बता।"

प्रयत्न कर बदले हुए स्वर को पहिचान कर वह मुस्करा उठी, कहने लगी

"बताऊँ।"

"बता।"

"क्या देगा रे, हीरा!"

और एक झपट्टे में अपने को मुक्तकर वह खडी हो गई। पर हीरा ने दूसरे ही पल उसे कसकर अपनी बाहुओ में जकड लिया :

"मै अपने आपको ही देता हूँ, रेवती। लेगी ?"

वह पल हीरा-रेवती की जिन्दगी को एक दूसरे से बांध गया। शादी हुई और इसके बाद गांव के दो साल के निवास मे कीरत ने जन्म लिया। गांव मे अधिक वह इसलिए नहीं रह सकी कि जमीदार की लोलुप नजर उस पर पड गई थी और अपनी हरकतो में असफल होकर वह उन्हे हर प्रकार से सताने लगा था। वे घरबार छोड़कर तब 'नगर चले आये।

बाज़ार से कीरत आ गया था, वह भी अपनी मां की बातें सुनने लगा। इस प्रकार बहुत समय बीत गया। आख़िर, मैं उठ खड़ा हुआ, जाने की अभिलाषा जाहिर की। कीरत की मां भी खड़ी हो गई, और वह मेरी ओर देखकर कहने लगी:

"आज तो आप बोले ही नहीं, कॉमरेड दादा, क्या बात है ?"

मैं मौन ही रहा। कीरत की मां एक बार अपने लड़के की ओर नेत्र-कोर से देखकर बोली :

"अपनी खोज में असफल रहे क्या?"

वह मंद मुस्कराने लगी। रिक्त आंखों से मैंने उसकी ओर देखा और एक ही सांस में यह कहता हुआ मैं उस कोठरी के बाहर निकल गया ·

"ठीक कहती हो, कीरत की मां, मैं असफल ही रहा।"

× × × ×

अपने ही अन्तर्द्वन्द्व में मैं ऐसा घुल गया कि पांच छः दिन तक घर के बाहर तक न निकला। और जब एक दिन एकाएक मैंने पार्टी ऑफिस में प्रवेश किया, तो देखा साथी दिवाकर सदा की तरह मुस्करा कर मेरा स्वागत कर रहा है। साथी दिवाकर पार्टी की तरफ से ऑफिस में ही रहता था, उस समय भी वहां उसके सिवा और कोई नहीं था। आंखों पर झूमती हुई बालों की बिखरी लटों को अपनी उंगलियों से ऊपर करते हुए दिवाकर ने मुस्कराकर कहा :

"कहीं बाहर गये थे, कॉमरेड !"

मैंने केवल सिर हिलाकर ऐसा प्रकट कर दिया जिससे दिवाकर को स्वीकृति-सूचक संकेत मिल जावे ताकि यहां रहने पर ऑफिस मे न आने के कारण को जानने का औत्सुक्य उसके हृदय मे जाग्रत ही न हो।

"अरे हां !" दिवाकर किसी भूली बात को याद कर जैसे बोल उठा, कॉमरेड एक कागज़ तुम्हारे नाम है।"

"होगा।"एक कुर्सी पर बैठते हुए मैंने कहा। अपने ही स्वर की उदास-वृत्ति मेरे मानस मे एक अव्यक्त टीस पहुँचा गई।

दिवाकर ने एक लिफाफा लाकर मुझे दिया। मेरी सरसरी नज़र जो लिफाफे पर पडी, उसकी अपरिचित लिखावट मेरे मानस-चक्षुओ को परिचित मालूम हुई। किसी एकान्त कोने मे चले जाने की आतुरता से मैं विकल हो उठा जहाँ इस लिफाफे के भीतर बन्द पत्र के संदेश को सुन सकूं, उसकी आत्मा से मिल सकूं। मैंने लिफाफे को अपनी जेब मे रख लिया और दिवाकर से इधर उधर की उडती दो-चार बातें कर मैं वहां से सीधा घर की ओर रवाना हो गया।

जैसे मुझे भान हुआ था, वह पत्र कीरत की मां का था। मैंने उसे पढा एकबार नहीं कई बार। वह था मेरे द्वारा की गई कृपा-पूर्ण सहायता के लिए कृतज्ञता की द्रवित अनुभूति लिए, असभाव्य प्रतिकार की दीनता के कारण करुणा लिए,और इस अल्प मिलन-काल की अल्प स्मृति को वरसो री अपने ही मे सँजोकर चि--विदा का पैगाम लिए।

पत्र की भाषा साधारण थी, सूचनात्मक। उसने सूचना दी बिछुड़ने की, और वही विछोह कीरत की माँ को मुझसे सदा के लिये मिला गया, उसे मेरी जीवन-धारा मे बहा गया। तब ही से मेरा जीवन इस सगम का प्रतीक बन गया है।

क्या पाया ? कुछ कह नही सकता। आखिर किस तुला का आधार लेकर जो पाया उसका मोल करूँ ? कीरत की माँ मेरे जीवन के ऐसे काल मे आई थी जब मेरा सर्वांग यौवन के उद्दाम मनोवेग से सचरित था, ऐसे तथ्यो से सहज अभिमत्रित था जो आज के दयनीय मानव जीवन, रूढिगन्त विकलांग समाज तथा एकतत्रीय सत्तानिष्ठ जर्जरित सरकार के प्रति तीव्र घृणा तथा विरक्ति भरकर विद्रोह करने को उकसाते हैं, और जो अघ पाशविक उन्माद को जगा जाते हैं अपने सब को खण्ड खण्ड करने—सर्वनाश करने तथा उस विध्वंश की राख पर नव-निर्माण करने व्यक्ति का, समाज का, सरकार का—सब काम 'इस जमीन का, उस आसमान का! मेरा ऐसा उद्दाम मनोवेग कीरत की माँ को मृदु मधर ऊर्मियो से आलिगन-बद्ध होकर स्वय अपने को ही नव-रूप मे देखने लगा। मन बदला, आँखो ने नया दृष्टि-बिन्दु पाया। मेरे अन्तर्पट मे अब वह अग्नि नही धधक रही थी जो अपनी प्रचड ज्वाला से सबको भस्मीभूत करती है, पर उस पर तपोवन की ज्योतिर्मय तथा सुवासित निर्धूम समिधा जाज्वल्यमान थी।

मैने नये पुराने सब बन्धन तोड दिये, केवल इसी अन्त-ज्योति में मैने बाद में काम किया—मुझे आत्म-संतोष मिला।

पत्र की भाषा साधारण थी, सूचनात्मक। उसने सूचना दी बिछुड़ने की, और वही विछोह कीरत की माँ को मुझसे सदा के लिये मिला गया, उसे मेरी जीवन-धारा मे बहा गया। तब ही से मेरा जीवन इस संगम का प्रतीक बन गया है।

क्या पाया ? कुछ कह नही सकता। आखिर किस तुला का आधार लेकर जो पाया उसका मोल करूँ ? कीरत की माँ मेरे जीवन के ऐसे काल में आई थी जब मेरा सर्वांग यौवन के उद्दाम मनोवेग से संचरित था, ऐसे तथ्यो से सहज अभिमंत्रित था जो आज के दयनीय मानव जीवन, रूढिगम्त विकलांग समाज तथा एकतंत्रीय सत्तानिष्ठ जर्जरित सरकार के प्रति तीव्र घृणा तथा विरक्ति भरकर विद्रोह करने को उकसाते है और जो अंध पाशविक उन्माद को जगा जाते हैं अपने सब को खण्ड खण्ड करने—सर्वनाश करने तथा उस विध्वंश की राख पर नव-निर्माण करने व्यक्ति का, समाज का, सरकार का—सब काम "इस जमीन का, उस आसमान का। मेरा ऐसा उद्दाम मनोवेग कीरत की माँ को मृदु मधुर ऊर्मियो से आलिंगन-बद्ध होकर स्वयं अपने को ही नव-रूप मे देखने लगा। मन बदला, आँखो ने नया दृष्टि-बिन्दु पाया। मेरे अन्तर्पट मे अब वह अग्नि नही धधक रही थी जो अपनी प्रचंड ज्वाला से सबको भस्मीभूत करती है, पर उस पर तपोवन की ज्योतिर्मय तथा सुवासित निर्धूम समिधा जाज्वल्यमान थी।

मैंने नये पुराने सब बन्धन तोड दिये, केवल इसी अन्त-र्ज्योति में मैंने बाद में काम किया—मुझे आत्म-संतोष मिला।

कीरत की माँ ने अपने पत्र द्वारा मुआवज़े की वह रकम स्वीकार कर लेने की मुझे प्रार्थना की थी और यह कामना प्रकट की थी कि विवाह उपरान्त नव वधू को उस रकम से कुछ वस्तुएँ खरीदकर उसकी ओर से भेंट कर दी जावे। कीरत की माँ इस सम्बन्ध मे सतर्कता-पूर्वक मिल-मैनेजर को भी लिखना नही भूली थी।

मेरे घर में वह नव-वधू नही आई, अतः आज भी वह पत्र तथा वह रकम मेरे पास धरोहर-रूप पडे हुए हैं।

चाहता रहा हूँ कि असभव रेखा के परे जो आशा खद्योत की तरह चमकती है उसको फलीभूत करती हुई कीरत की माँ स्वय ही मेरे द्वार पर आ खडी हो, मै वह भेंट उसको ही अर्पित कर दूं, अपने भार से मुक्त हो लूं, पर अब तो जीवन-बेला समाप्त होने को है, कुछ ही दिन शेष रहे हैं, न वह कल्पना ही रही है और न वह आशा। इसी शिथिल एकाकी पक्ष मे केवल बीते चित्र मेरे नेत्रो के सम्मुख स्पष्ट झलक उठते हैं, मै उन्हें ही देखता रहता हूँ। और मेरी डायरी के पन्ने स्मृति को जाग्रत करने मे मददगार ही होते हैं।